पुरोवाक्

विश्व साहित्य के क्षेत्र में वैदिक साहित्य का शिरोमणि होना सर्व स्वीकृत । भारतीयों ने ही नहीं, पाश्चात्य विद्वानों ने भी अपने अदम्य उत्साह एवं अथक अध्यवसाय से वैदिक साहित्य के मर्म को समझने-समझाने का भरसक प्रयास किया है और मेरा तो यह विचार है कि ये पाश्चात्य विद्वान् कुछ-एक न्यूनताओं को छोड़कर आपने प्रयास में सफल भी हुए हैं । रही भारतीयों की बात, प्राचीन सायण प्रभृति वेदों के अनुशीलन कर्त्ताओं को छोड़कर वैदिक वाङ्मय के भारतीय अध्येताओं में से बहुतों ने अपने पल्लवग्राही पाण्डित्य का ही परिचय दिया है । आलोचनात्मक अध्ययन की दृष्टि से भी, जसकी कि आज भारतीय साहित्य में बाढ़ आ रही है, मैं यह निःसङ्कोच कह सकता हूँ कि भारतीयों में अभी उस लगन एवं अनुसन्धित्सा का प्रायः भाव है जो पाश्चात्य समीक्षकों में देखने को मिलती है । जिन बेचारे पाश्चात्यों को न भारतवर्ष में जन्म लेने का सौभाग्य प्राप्त हुआ और न भारतीय धर्म एवं दर्शन के व्यवहार का अवसर मिला, उनके द्वारा किया गया वैदिक साहित्य अनुशीलन निश्चय ही श्लाघनीय है । भारतवर्ष में इधर वैदिक साहित्य ही नहीं, अपितु समग्र संस्कृत साहित्य के क्षेत्र में आलोचना कार्य दिनों-दिन वृद्धि को प्राप्त कर रहा है जो निःसन्देह उस क्षति की पूर्ति कर रहा है जो संस्कृत साहित्य के प्राचीन भाष्यकारों एवं टीकाकारों में वर्त्तमान थी ।

जहां तक प्रस्तुत पुस्तक की बात है, कई वर्षों तक एम० ए० के छात्रों को वेद सम्बन्धी पत्र पढ़ाने के परिणाम स्वरूप प्रस्फुटित ज्ञान-ग्रन्थियां ही इसके कृतित्व के मूल में निहित हैं । अपने इस प्रयास में मैं कहां तक सफल हुआ हूँ, यह कहने का किञ्चित् मात्र भी अधिकार मुझे नहीं है । इसका निर्णय

तो वैदिक वाङ्मय के वे अध्येता ही कर सकेंगे जिनकी दोष-गुण समीक्षा का मैं अपेक्षी हूँ । हां, वैदिक वाङ्मय के किसी एक अध्येता का भी यदि कुछ भी लाभ हुआ तो मैं अपने परिश्रम को व्यर्थ न समझूंगा।

मेरी अमौलिकता का इससे अधिक प्रमाण और क्या हो सकता है कि मैंने प्रस्तुत कृति के सम्बन्ध में पचासों ग्रन्थों का आश्रय लिया है। इन ग्रन्थों के पाश्चात्य लेखकों में विलसन, वेबर, ग्रिफिथ, विन्टरनिट्स, मैक्डानल और कीथ प्रभृति विद्वान् हैं और भारतीय विपश्चितों में डा० मंगलदेव शास्त्री, डा० सूर्यकान्त शास्त्री तथा प्रो० बलदेव उपाध्याय विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इन सभी विद्वानों का ऋणी होने में मुझे गर्वानुभव होता है।

पुस्तक के प्रकाशक श्री रतिराम जी शास्त्री संस्कृत जगत् के लब्ध प्रतिष्ठ प्रकाशक एवं सच्चे सेवक हैं। उन्हें धन्यवाद देकर मैं अपने सहज सम्बन्ध में बाधा डालना नहीं चाहता। इस पुस्तक के प्रकाशन के सम्बन्ध में श्री लक्ष्मी नारायण शर्मा 'विशारद' विशेषतया धन्यवाद के पात्र हैं। उन्होंने बड़ी सचेष्टता के साथ प्रूफ पढने का कष्ट उठाया है।

इसके अतिरिक्त पुस्तक के रचना-काल में अनुज वाचस्पति से अपूर्व सहायता मिली है, जिसके लिए मैं उनका सदा शुभैषी हूँ।

व्यास पूर्णिमा — राममूर्त्ति शर्मा

शिव-निवास,
के० जी० के० कालेज
मुरादाबाद

भूमिका

वेद भारतीय धर्म-दर्शन एवं प्राचीन कवित्व की अपार निधि हैं। इसके अतिरिक्त अथर्ववेद की ऐन्द्र जालिकता एवं औषधि विज्ञान भी कम महत्व-पूर्ण नहीं है। साधारण पाठक के लिये यह कह देना उपयुक्त होगा कि वैदिक साहित्य से केवल ऋग्वेद संहिता, यजुर्वेद संहिता, सामवेद संहिता एवं अथर्व-वेद संहिता का ही आशय नहीं है, प्रत्युत वैदिक वाङ्मय के अन्तर्गत संहि-ताओं के अतिरिक्त ब्राह्मण-साहित्य, आरण्यक-साहित्य और उपनिषत् साहित्य भी आता है। इस वैदिक वाङ्मय के तात्पर्य-बोध के लिये वेदाङ्ग साहित्य की वैसी ही उपादेयता है जैसी कि जीवकी शरीर रक्षा के लिये उसके समस्त अङ्ग-प्रत्यङ्गों की। वेदाङ्ग-साहित्य के अन्तर्गत सूत्र, शिक्षा, व्याकरण, निरुक्त छन्द और ज्योतिष शास्त्र आते हैं।

संहिताओं का शाखा-भेद

यज्ञ की आवश्यकता को ध्यान में रखकर संकलित संहिताओं का पठन-पाठन अक्षुण्ण बनाये रखने की उदात्त अभिलाषा से व्यास जी ने अपने चार शिष्यों को वेदों का अध्यापन किया था। पैल को ऋग्वेद, कवि जैमिनि को सामवेद, वैशम्पायन को यजुर्वेद तथा सुमन्तु को अथर्ववेद का अध्यापन कराया। इन मुनियों ने गुरुमुख से अधीत संहिताओ का अपने शिष्य-प्रशिष्यों में पूर्ण प्रचार किया, जिससे यह वेद कल्पतरू विविध शाखा सम्पन्न बनकर विपुल विस्तार को प्राप्त हुआ है। इन विविध शाखाओं में कहीं-कहीं तो उच्चारण के विषय में मतभेद था और कहीं कतिपय मन्त्रों को संहिता में ग्रहण करने के विषय में। शाखा के साथ चरण शब्द भी सम्बद्ध है। आजकल दोनों का प्रयोग प्रायः समानार्थ में किया जाता है, परन्तु मालती-माधव के टीकाकार जगद्धर के अनुसार चरण शब्द का अर्थ है—कतिपय

विशेष शाखाओं के अध्येताओं का एकतापन्न समुदाय। इन शाखाओं विस्तृत वर्णन पुराणों तथा चरण-व्यूह में किया गया है। शाखाओं की संख्या में भिन्न ग्रन्थों में महान् विपर्यय दृष्टिगोचर होता है। भाष्यकार पतञ्जलि ने ऋक् की २१ शाखाओं का, यजु: की १०० शाखाओं का, साम की १००० शाखाओं तथा अथर्व की ९ शाखाओं का उल्लेख 'पस्पशाह्निक' में किया है। चरणव्यूह की गणना इससे भिन्न है। भाष्योक्त ११३० शाखाओं में से अधिकांश शाखायें अध्ययनाभाव के कारण विस्मृतिगर्त में लीन हो गई है। केवल कतिपय इनीगिनी शाखायें ही आजकल उपलब्ध होती हैं।

सिद्धान्त तो यह है कि जितनी शाखायें होंगी उतनी ही संहितायें, उतने ही ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद् तथा उतने ही श्रौत और गृह्यसूत्र। शाखा के अध्येता अपने सब वैदिक ग्रन्थ पृथक्-पृथक् रखते थे और अपना श्रौत कार्य अपने ही श्रौत सूत्रों से सम्पादित करते थे और इस समय भी करते हैं। गृह्य संस्कारों के लिये भी विशिष्ट गृह्य सूत्र की आवश्यकता थी और आज भी है। इस प्रकार प्रत्येक शाखा में संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद् श्रौत और गृह्यसूत्र अपने होने चाहियें। परन्तु दुःख का विषय है कितनी ही शाखाओं के आज कुछ ही ग्रन्थ उपलब्ध हो रहे हैं। किसी शाखा की यदि अपनी संहिता है, तो ब्राह्मण दूसरे का है और यदि ब्राह्मण अपना है तो सूत्र दूसरी के हैं। तात्पर्य यह है कि ऐसी शाखायें नितान्त स्वल्प हैं, जिनका समग्र अंश क्रमबद्ध रूप में उपलब्ध है। इस प्रकार अनेक शाखाओं के उच्छिन्न हो जाने से तथा वैदिक ग्रन्थों के लुप्त हो जाने से ऐसी दुरवस्था दीख रही है।

भर्तृहरि ने अपने वाक्यपदीय में १५ शाखाओं का उल्लेख किया है। पातञ्जल महाभाष्य के अनुसार ऋग्वेद की समस्त शाखायें २१ हैं, जिनमें चरणव्यूह के कथनानुसार ५ ही प्रमुख हैं। ये पाँच शाखायें हैं--शाकल, बाष्कल, आश्वलायन, शांखायन और माण्डूकायन। इन सब शाखाओं की संहितायें विन्ध्य के दक्षिण, महाराष्ट्र में आज भी उपलब्ध होती हैं। इनके

सम्बन्ध में संक्षिप्त सङ्केत अपेक्षित है--

शाकल--आजकल प्रचलित शाखा-शाकल शाखा है। इसका दो प्रकार से विभाजन किया जाता है। एक मण्डल अनुवाक और वर्ग के रूप में है और दूसरा अष्टक अध्याय और सूक्त के रूप में है। तदनुसार इस शाखा मे १० मण्डल, ८५ अनुवाक और २००८ वर्ग हैं। और दूसरे विभाजन के अनुसार ८ अष्टक, ६४ अध्याय और १०१७ या (१०२०) सूक्त हैं। १६ छन्द हैं और १०४६७ मन्त्र हैं। दो चरण के १७ मन्त्र हैं, एकचरण के छ: मन्त्र हैं और अन्य सब तीन या अधिकचरण वाले है।

(२) वाष्कलशाखा--यद्यपि इस शाखा की संहिता अनुपलब्ध है तथापि इसकी विशिष्टताओ का परिचय अन्यत्र स्थलों पर मिल जाता है। शाकल सहिता के अनुसार ऋग्वेद का अन्तिम मन्त्र 'समानी व आकूतिः' है, परन्तु वाष्कल सहिता के अनुसार 'तच्छंयोरावृणीमहे' अन्तिम ऋचा है। मन्त्रों की संख्या भी इसमें अधिक है। शाकल में केवल १०१७ सूक्त है, परन्तु वाष्कल में १०२५ है। इन आठ मे से एक तो 'सज्ञान' सूक्त है, जो इस सहिता के अन्त में है तथा शेष सूक्त ११ बालखिल्य सूक्तों के प्रथम सात सूक्त है। फलतः, वाष्कल शाखा के अष्टम मण्डल मे शाकल की अपेक्षा सात सूक्त अधिक है। अनुवाकानुक्रमणी के अनुसार प्रथम मण्डल के मन्त्रों मे शाकल्य क्रम से वाष्कल-क्रम कुछ भिन्न है। इसीलिये वैदिकों में आजकल यह प्रवाद है कि जो मनुष्य किसी कार्य को अस्तव्यस्त रूप स करता है, उसे वाष्कल की सज्ञा दी जाती है।

(३) **आश्वलायन**—आश्वलायन शाखा वालों की संहिता और ब्राह्मणों का अस्तित्व किसी समय अवश्य था, क्योंकि १७ वीं शती के कवीन्द्राचार्य की सूची में इन ग्रन्थों का नामोल्लेख स्पष्ट है। वर्तमान में इस शाखा के केवल गृह्यसूत्र तथा श्रौत सूत्र ही उपलब्ध हैं।

(४) **शांखायन**—इस शाखा की सहिता तो उपलब्ध नहीं होती, परन्तु ब्राह्मण तथा आरण्यक प्रकाशित हैं। कुछ लोगों की सम्मति मे शांखायन

और कौषतिकी शाखा एक ही है। परन्तु वस्तुतः दोनों में भेद है।

(५) माण्डूकायन —इस शाखा की भी बहुत कुछ पुस्तकें पहिले उपलब्ध थीं, परन्तु अब कोई भी नहीं मिलती।

अथर्ववेद की शाखायें

अथर्ववेद की शौनक और पैप्पलाद दो शाखायें हैं। ये दोनों ही अप्रकाशित हैं।

यजुर्वेद संहिता की शाखायें

यजुर्वेद संहिता के दो भाग हैं—कृष्ण यजुर्वेदसहिता और शुक्लयजुर्वेद-संहिता। कृष्ण यजुर्वेद की काठक संहिता, तैत्तिरीय संहिता, मैत्रायणी संहिता और चरक संहिता, ये शाखायें हैं और शुक्लयजुर्वेद की वाजसनेयि संहिता (माध्यन्दिन) और काण्व संहिता, ये शाखायें है।

सामवेद संहिता की शाखायें

सामवेद संहिता की कौथुम, राणायनीय और जैमिनीय संहितायें हैं। कौथुम शाखा की उपशाखा ताण्ड्य है।

वेदों के भाष्यकार—आज वैदिक भाष्यकारों में सायणाचार्य का नाम बड़े समादर के साथ लिया जाता है किन्तु सायणाचार्य से पूर्व-वर्ती अनेक वैदिक भाष्यकार हैं जिनका योगदान वेदानुशीलन के लिये महत्त्वपूर्ण है। इन सायण पूर्ववर्ती भाष्यकारों में तैत्तिरीय सहिता (कृष्ण यजुर्वेद) पर वृत्ति के लेखक कुण्डिन तैत्तिरीय संहिता पर ही भाष्य के लेखक भवस्वामी, तैत्तिरीय संहिता के ही भाष्यकार क्षुर, ज्ञानयज्ञ[1] भाष्य के लेखक भट्ट भास्कर मिश्र, ऋग्वेद के भाष्यकार—माधव भट्ट, स्कन्दन स्वामी, वेंकट-माधव, आनन्द तीर्थ, और आत्मानन्द, ऐतरेय ब्राह्मण पर भाष्य के लेखक—गोविन्द स्वामी और षड्गुरु शिष्य, सामवेद के भाष्यकार–माधव, भरत स्वामी और गुणविष्णु, काण्वसंहिता के भाष्यकार हलायुध, काण्व शतपथ

१. ज्ञानयज्ञ नामक भाष्य मैसूर संस्कृत ज्ञानमाला के अन्तर्गत कई भागों में प्रकाशित हुआ है।

पर भाष्य के लेखक नीलकण्ठ तथा माध्यन्दिन शतपथ पर भाष्य के लेखक हरिस्वामी तथा उव्वट के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

ऊपर हमने जिन सायण पूर्ववर्त्ती वैदिक भाष्यकारों का उल्लेख किया है उनके कृतित्व में वह समग्रता एवं स्पष्टता नहीं है जो कि आचार्य सायण के भाष्य में समुपलब्ध है। आचार्य सायण का भाष्यकार्य वेदार्थानुशीलन का प्रौढ़ स्तम्भ है।

सायणाचार्य के भाष्य—सायणाचार्य ने संहिताओं, ब्राह्मणों एवं आरण्यकों पर अपने भाष्य लिखे थे। इन्होंने संहिताओं में, कृष्णयजुर्वेद की तैत्तिरीय संहिता, ऋग्वेद संहिता, सामवेद संहिता, काण्व संहिता (शुक्ल यजुर्वेदीय) और अथर्ववेद संहिता पर भाष्यों की रचना की थी। ब्राह्मणों में, कृष्ण यजुर्वेद के तैत्तिरीय ब्राह्मण, ऋग्वेद के ऐतरेय ब्राह्मण, सामवेद के ताण्ड्य (पञ्चविंश महाब्राह्मण) ब्राह्मण, षड्विंश ब्राह्मण, सामविधान ब्राह्मण, आर्षेय ब्राह्मण, देवताध्याय ब्राह्मण, उपनिषद् ब्राह्मण, संहितोपनिषद् ब्राह्मण, वंश ब्राह्मण और शुक्ल यजुर्वेद के शतपथ ब्राह्मण पर मौलिक भाष्य रचना की थी।

सायणाचार्य की भाष्य पद्धति की आलोचना

प्राचीन भारत की असंख्य परम्पराओं से समन्वित वैदिक साहित्य के सफल भाष्यकार के लिये इस देश की मूल परम्पराओं से अवगत होना अत्यावश्यक है। यही कारण है कि पाश्चात्य विद्वानों द्वारा किया गया वेदों का अतिशय श्रम सिद्ध भी भाष्य कृत्य वैसा साफल्य नहीं प्राप्त कर सका है जैसा कि सायणाचार्य का भाष्य। सायणाचार्य के भाष्य-प्रणयन की निम्नलिखित प्रमुख विशेषतायें हैं—

१. यास्क ने परम्परा का पालन मन्त्रार्थ निरूपण के लिये उपादेय बतलाया है। इस सम्बन्ध में वे लिखते हैं—

"अयं मन्त्रार्थचिन्ताभ्यूहोऽभ्यूढोऽपि श्रुतितोऽपि तर्कतः" (निरूक्त १३।११)

अर्थात् मन्त्र का विचार परम्परागत अर्थ के श्रवण और तर्क से निरूपित किया गया है। यास्क के मतानुकूल आचार्य सायण ने वेदार्थ निरूपण में

परम्परा का निःसङ्कोच आश्रय लिया है। परन्तु आचार्य सायण की यह विशेषता है कि उन्होंने पारस्परिक अर्थ को स्पष्ट करने के लिये पाणिनीय व्याकरणानुसारी व्युत्पत्ति का भी आश्रय लिया है। यदा-कदा प्रतिशाख्य की सहायता से भी शब्दों के अर्थ को स्पष्ट किया है। इसके अतिरिक्त परम्परागत शब्दार्थ को स्पष्ट करने के लिये सायणाचार्य ने निरुक्त का भी पर्याप्त आश्रय ग्रहण किया है। परम्परानुसारी होने के ही कारण आचार्य ने अपने पूर्ववर्त्ती स्कन्द स्वामी तथा माधव प्रभृति भाष्यकारों के द्वारा प्रतिपादित अर्थ का भी यथावसर अनुसरण किया है।

२. सायणाचार्य को कल्पसूत्रों का पूर्ण ज्ञान था। इसीलिए वेदों के यज्ञपरक स्थलों की व्याख्या मे वे पर्याप्त सफल रहे हैं। वैसे भी, आचार्य सायण ने अपने भाष्य में याज्ञिक पद्धति को विशेष महत्त्व दिया है। इसका प्रमुख कारण यह प्रतीत होता है कि उस समय वैदिक कर्मकाण्ड का पूर्णतया प्रचार तथा व्यवहार था।

३. आध्यात्मिकता, सायण भाष्य पद्धति की प्रमुख विशेषता है। आध्यात्मिक दृष्टिकोण के आधार पर आचार्य सायण विभिन्न लौकिक विषयों के अन्तर्गत भी आध्यात्मिक अर्थ की अभिव्यञ्जना बड़ी सरलता से कर लेते हैं। इस प्रकार मन्त्रों के लौकिक एवं अध्यात्मिक— इस द्विविध अर्थ निरूपण के लिये वे व्याकरणिक व्युत्पत्तियों का पूर्णतया आश्रय लेते हैं।

४. बहुज्ञता, भाष्यकार सायण की अत्यन्त महत्वपूर्ण विशेषता है। मन्त्रों की व्याख्या करते समय आचार्य सायण की भाष्य पद्धति से उनकी बहुज्ञता स्पष्ट झलकती है। अपनी बहुज्ञता के कारण सायणाचार्य एक-एक शब्द के अनेक अर्थ प्रस्तुत करते है। इस व्यापक दृष्टिकोण के अनुसार वे मन्त्रार्थ का निर्णय कभी-कभी वेदों के कुशल अध्येता पर छोड़ देते हैं। उनकी यह भाष्य शैली 'यद्वा-अथवा' की शैली है। एक उदाहरण देना उपयुक्त होगा—"शृङ्गं श्रयतेतर्वा, शृणातेर्वा, शम्नातेर्वा, उद्गतमितिना शिरसो निर्गमितिवाया सोऽयंवा:" (सा० भा० ऋग्वेद १।५४।६)।

(५) भाषा-शिल्प विधान किसी भी कृति का महत्त्वपूर्ण अङ्ग है। जहाँ तक वेदों के सायण-भाष्य के भाषा-शिल्प का प्रश्न है, वह गूढातिगूढ वैदिक शब्दों के अर्थ के सुस्पष्ट करने मे पूर्णरूप से सहायक सिद्ध हुआ है। सायण भाष्य की भाषा प्रायः सरल, सुबोध एवं परिष्कृत है। उसकी तुलना शङ्कराचार्य रचित ब्रह्मसूत्र-भाष्य से की जा सकती है। इस सम्बन्ध में एक उदाहरण देना समीचीन होगा :—

"अपरे त्वेवं कथयन्ति। गृत्समदस्य यज्ञे प्रविष्टमेकाकिनमिन्द्रं ज्ञात्वा असुराः परिबभ्रुः" (सा० भा० ऋग्वेद २।१२।१)

सायण भाष्यीय वाक्य-गठन भी अधिक सरल एव स्वाभाविक है। उसमें ब्रह्मसूत्र के रामानुजाचार्य द्वारा विरचित श्री भाष्य जैसी जटिलता नही है।

(६) सायणाचार्य की वेद भाष्य पद्धति की यह अद्वितीय विशेषता है कि भाष्यकार ने सूक्त के आरम्भ में उसके विनियोग ऋषि एवं देवता से सम्बन्धित अपेक्षित विषय का संकेत प्रामाणिकता के साथ किया है। इसके साथ ही साथ भाष्यकार ने सूक्त विषयक आख्यायिका को भी यथावसर दे दिया है। इस उपोद्घात पद्धति के अन्तर्गत सायणाचार्य ने प्रकरणानुकूल वैदिक सिद्धान्तों का भी उल्लेख किया है। निश्चय ही, सायणभाष्य के ये उपोद्घात वैदिक मन्त्रों के अर्थ के स्पष्टीकरण मे अत्यन्त सहायक सिद्ध हुए हैं। सायणाचार्य के भाष्य की उपर्युक्त विशेषताओं के अतिरिक्त उनकी भाष्य पद्धति मे अनेक दोष भी मिलते है। यहां निष्पक्ष समालोचना की दृष्टि से सायण-भाष्य के दोषों के सम्बन्ध मे भी उल्लेख करना उपादेय होगा।

सायण–भाष्य के दोष

हमें यह स्वीकार करने मे सङ्कोच नही है कि जहां सायण-भाष्य विविध गुण सम्पन्न है, वहाँ उसमें अनेक दोष भी है। कहीं-कहीं तो सायण-भाष्य के गुण ही दोष बन गये है।

सायण-भाष्य के निम्नलिखित प्रमुख दोष हैं—

(१) सायण–भाष्य पर साम्प्रदायिकता का प्रभाव प्रतीत होता है।

परम्परावादी होने के कारण सायणाचार्य ने वेद-मन्त्रों की व्याख्या करते समय प्रायः पूर्ववर्त्ती सम्प्रदायों का ही आश्रय लिया है।

इस सम्प्रदायवाद का यह फल है कि मन्त्रार्थ करते समय भाष्यकार सायण अपनी स्वतन्त्र तर्कना शक्ति से सहायता नहीं ले पाये हैं।

(२) सायण-भाष्य पद्धति का एक दोष यह है कि उसमें अर्थ सम्बन्धी अनिश्चिति है। जहाँ सायण-भाष्य के अनुशीलन से भाष्यकार की बहुज्ञता का परिचय मिलता है। वहाँ उससे यह भी स्पष्ट विदित होता है कि वे किसी एक शब्द के एकाधिक अर्थ देकर उस शब्द के अर्थ के सम्बन्ध में अपना निश्चित मत नहीं देते। एक उदाहरण प्रस्तुत है—

अत्र किं शब्दोऽनिर्ज्ञातस्वरूपत्वात् प्रजापतौ वर्तते। यद्वा सृष्टयर्थं कामयत इति कः। कमेर्डः प्रत्ययः। यद्वा कं सुखम् तद्रूपत्वात् क इत्युच्यते। अथवा इन्द्रेण पृष्टः प्रजापतिर्मदीयं महत्त्वं तुभ्यं प्रदायाहं कः कीदृशः स्यामित्युक्तवान्। (सा० भा० ऋग्वेद १०।१२१) सायण-भाष्य के अन्तर्गत उक्त प्रकार के अनेक उदाहरण मिलते हैं।[1]

वेदों के पाश्चात्य भाष्यकार

यद्यपि पाश्चात्य विद्वानों द्वारा किये गये वेदानुशीलन का प्रमुख आधार प्रायशः सायण-भाष्य ही है, परन्तु पाश्चात्यों की वैज्ञानिक पद्धति एवं अनुसंन्धान परक शैली सायण-भाष्य पद्धति से एकदम भिन्न है। कुछ भी हो यूरोप तथा अमेरिका के विद्वानों ने वैदिक वाङ्मय का अनुशीलन बड़ी लगन के साथ किया है और ये विद्वान् बहुत कुछ अंश में अपने प्रयत्न में सफल भी हुये हैं। इन विद्वानों में निम्नलिखित अत्यधिक प्रमुख हैं—

मैक्समूलर—इस विद्वान् ने अपने सन् १८४९ से लेकर १८७५ तक के काल के परिश्रम के फलस्वरूप ऋग्वेद का सायण भाष्य सहित सम्पादन

---

१. सा० भा० ऋग्वेद २।१२।८,२।१२।४,१।५४।६ आदि

प्रकाशित किया। यह सम्पादन छः भागों में उपलब्ध है। वेदों के विद्यार्थी लिये यह संस्करण अतिशय उपादेय है।

डा० वेबर — डा० वेबर ने यजुर्वेद की दोनों संहिताओं का मूल्यवान् संस्करण प्रकाशित किया।

डा० वेनफी—डा० वेनफी ने सामवेद का सम्पादन किया है।

डा० राथ तथा ह्विट्नी—डा० राथ तथा ह्विट्नी, इन दोनों विद्वानों ने मिलकर अथर्ववेद संहिता का प्रामाणिक संस्करण प्रकाशित किया था।

विल्सन—सर्वप्रथम डा० विल्सन महोदय ने ऋग्वेद का सायण भाष्य पर आधारित अंग्रेजी अनुवाद सन् १८५० ई० में आरम्भ किया था, परन्तु वे इसे पूर्ण नहीं कर पाये।

डा० ग्रासमान—डा० ग्रासमान ने ऋग्वेद का जर्मन भाषामें सन् १८७६-७७ में पद्यात्मक अनुवाद किया। यह अनुवाद पूर्णतया पाश्चात्य पद्धति पर आधारित है। इस अनुवाद के अन्तर्गत भारतीय पद्धति की उपेक्षा ही की गई है। यह अनुवाद दो भागों में सन्निहित है।

डा० लुडविग—डा० लुडविग ने १८७६-८८ ई० के मध्य में ऋग्वेद का गद्यात्मक अनुवाद जर्मन भाषा में छः भागों में सम्पादित किया। डा० लुडविग द्वारा की गई व्याख्या अत्यन्त उपादेय है।

डा० ग्रिफिथ—डा० ग्रिफिथ ने चारों संहिताओं का अनुवाद अंग्रेजी भाषा में सम्पन्न किया था। डा० ग्रिफिथ बनारस के क्वीन्स कालेज के अध्यक्ष भी रहे थे।

डा० कीथ— डा० कीथ ने तैत्तिरीय संहिता का टिप्पणी सहित उपयोगी अनुवाद किया था।

लैनमैन—लैनमैन तथा डा० ह्विट्नी ने मिलकर अथर्ववेद संहिता का सटीक अनुवाद किया था।

उपर्युक्त विद्वानों के अतिरिक्त भी अनेक पाश्चात्य विद्वानों ने वैदिक साहित्य का अनुशीलन किया है।

पाश्यचात्य पद्धति के गुण तथा दोष

वेदों के पाश्चात्य अनुशीलन कर्त्ताओं की पद्धति तुलनात्मक एवं ऐतिहासिक पद्धति है। अतः निश्चित ही इन पाश्चात्य विद्वानों की व्याख्या पद्धति के अन्तर्गत वैज्ञानिकता अधिक है। वैदिक शब्दार्थ निर्णय के लिए इन विद्वानों ने जो अथक परिश्रम किया है वह सराहनीय है। परन्तु यह सब होने पर भी पाश्चात्य विद्वानों की व्याख्या पद्धति में प्रायः अनर्गलता देखने को मिलती है। इस अनर्गलता का मूल कारण यह कहा जा सकता है कि पाश्चात्य विद्वान् भारतीय परम्परागत धर्म एवं दर्शन से अपरिचित होने के कारण स्वच्छन्दता पूर्वक शब्दों का मन गढ़न्त अर्थ लगाते थे। उदाहरण के लिए पारस्कर गृह्य-सूत्र के 'कूर्म पित्त-मङ्के निधाय जपति' का अनुवाद करते समय ओल्डन बर्ग कूर्मपित्त शब्द का अर्थ कूर्म (कछुए) के पित्त को गोदी में रखकर जप करता है, यह अर्थ करते हैं। जबकि भारतीय परम्परा के अनुसार 'कूर्मपित्त' शब्द का अर्थ जलपूर्ण शराब अर्थात् घड़ा किया गया है। इस प्रकार के अर्थों की गड़बड़ी पाश्चात्य विद्वानों द्वारा प्रायः की गई है। एक और उदाहरण प्रस्तुत है। वैदिक काल में लिङ्ग पूजा का समर्थन करने के लिए पाश्चात्य विद्वानों ने शिश्नदेव ऋग्वेद ७।१२।५,१०।९३।३) शब्द का अर्थ लिङ्ग देवता किया है। परन्तु यह अनुचित है। देव शब्द का उक्त प्रयोग अभिधा उक्त प्रधान कदापि नहीं है। है। देव शब्द का उक्त प्रयोग 'मातृ देवो भव, पितृदेवो भव (तै० उ० १।१) के अन्तर्गत देव शब्द की तरह आलंकारिक है। अतः शिश्न देव शब्द का अर्थ—शिश्न अर्थात् लिङ्ग है देवता जिसका (काम क्रीड़ा में स्त्री पुरुष) है। इसीलिए यास्क और सायण ने इस शब्द का अर्थ अब्रह्मचर्य किया है। इस प्रकार पाश्चात्य विद्वानों ने वैदिक वाङ्मय की व्याख्या करते समय अनेक स्थलों पर असावधानी बरती है; परन्तु इतना निःसङ्कोच कहा जायेगा कि भारतीय समालोचक ने पाश्चात्य विद्वानों से वैदिक साहित्य के सम्बन्ध में ही नहीं, अपितु समग्र संस्कृत साहित्य के सम्बन्ध में बहुत कुछ सीखा है।

वैदिक साहित्य का इतिहास

विषय-सूची

पुरोवाक्

भूमिका

प्रथम अध्याय (पृ० १—६०)

(ऋग्वेद-संहिता)

यजुर्वेदादि की रचना, ब्राह्मण ग्रन्थों का प्रणयन, पद पाठ की योजना, सूत्र साहित्य की रचना, प्रातिशाख्यों की रचना, निरुक्त की रचना, अनुक्रमणियों की रचना, पाठ-भेदों का आविष्कार, ऋग्वेद की प्रकृति, कीजी का मत, ओल्डनवर्ग का मत, मैगडानेल का मत, डा० विन्टर निट्ज का मत, ऋग्वेद संहिता की विषय वस्तु, काव्यात्मक गीत, यज्ञीय स्तोत्र, दार्शनिक सूक्त, आख्यान सूक्त, हर्टेल, श्रोडर तथा मैक्समूलर का मत, पुरुरवा और उर्वशी संवाद सूक्त, यम यमी संवाद सूक्त, ऐन्द्रजालिक मत, धर्म निरपेक्ष सूक्त, दान स्तुतियां, ब्रह्ममोद्यसूक्त, ऋग्वैदिक धर्म और पौराणिकता, पौराणिकता का विकास, मानवीकरण, विशेषणों के आधार पर विकसित देव, विभिन्न कालों और जातियों के देव, भावात्मक देवों का विकास, यज्ञ यूप से की गई प्रार्थना, ग्रावन् या आद्रं से की गई प्रार्थना, मुसल-उलूखल से की गई प्रार्थना, शुन और सीर नामक कृषि देवों का आह्वान, ऋग्वैदिक धर्म की विशेषताएं, बहुदेववाद, एकेश्वरवाद, सर्वदेववाद और सर्वोच्चदेववाद, ऋग्वेद और पशु पूजा, ऋग्वेद में उपलब्ध आख्यान साहित्य की प्रकृति और उसका उद्देश्य, ऋग्वेद में अनुस्यूत आख्यान, संवादात्मक आख्यान, वैदिक आख्यानों का प्रयोजन, तत्कालीन इतिहास का सुरक्षण।

द्वितीय-अध्याय पृ० ६१–८२

(यजुर्वेद संहिता)

यजुर्वेद संहिता परिचय, कठ संहिता, कपिष्ठल कठ संहिता, मैत्रायनी संहिता, तैत्तिरीय अथवा आपस्तम्ब संहिता, वाजसनेयि संहिता, उद्देश्य, वाजसनेयि संहिता का वर्ण्यविषय, ऋग्वेद संहिता के स्तोत्रों तथा मन्त्रों का स्वरूप, प्रार्थना मन्त्र, नामावलि द्वारा देव स्तुति की पद्धति, यजुर्वेद का धर्म, यजुर्वेद की सामाजिक स्थिति, भौगोलिक तथ्य, मूल्यांकन।

तृतीय अध्याय पृष्ठ ८३-८९

(सामवेद संहिता)

चतुर्थ अध्याय (पृष्ठ ९०-१०६)

(अथर्ववेद संहिता)

पञ्चम अध्याय (पृष्ठ १०७ १५०)

(ब्राह्मण, आरण्यक एवं उपनिषत् साहित्य)

षष्ठ—अध्याय (पृष्ट १५१-१८७)

[वेदाङ्ग-साहित्य]

प्रथम अध्याय

ऋग्वेद–संहिता

प्रथम अध्याय

ऋग्वेद-संहिता

वेद शब्द का अर्थ

वैदिक साहित्य के सम्बन्ध में विचार करने से पूर्व वेद शब्द के अर्थ के सम्बन्ध में भी चिन्तन आवश्यक है। वेद शब्द के अर्थ के विषय में भारतीय एवं पाश्चात्य विद्वानों ने भी विचार किया है। अपना मत देने से पूर्व इन विद्वानों के मतो का निरुपण एवं विवेचन औचित्य पूर्ण होगा।

सायणाचार्य का विचार—आचार्य सायण ने अपनी ऋग्वेद भाष्य भूमिका के अन्तर्गत बड़े विस्तार के साथ वेद के अर्थ के सम्बन्ध में विचार किया है। उन्होंने व्युत्पत्ति के आधार पर वेद को केवल ज्ञान मानने की धारणा की समीक्षा के बाद "मन्त्र ब्राह्मणयोर्वेद नामधेयम्" अर्थात् मन्त्र और ब्राह्मण साहित्य की संज्ञा ही वेद है, यह मत प्रस्तुत किया है। सायण के विचार में सहिताओं की 'मन्त्र संज्ञा है और ब्राह्मण नाम ब्राह्मण ग्रन्थों का है' जिसमे आरण्यक और उपनिषद जुड़े हुये है। इस प्रकार आचार्य सायण वेद की वाचकता को भारतीय मान्यता के अनुसार परिच्छिन्न कर देते हैं।

स्वामी दयानन्द सरस्वती का विचार—स्वामी दयानन्द सरस्वती ने ऋग्वेद भाष्य भूमिका के अन्तर्गत 'वेद' शब्द के व्युत्पत्ति मूलक अर्थ के सम्बन्ध में विचार करते हुये लिखा है—

"विदन्ति जानन्ति, विद्यन्ते भवन्ति, विन्दन्ति अथवा विन्दन्ते लभन्ते, विन्दन्ति विचारयन्ति सर्वे मनुष्याः सत्यविद्यां यैर्येषुवा तथा विद्वांसश्च भवन्ति ते वेदाः"।

उपरिलिखित पंक्तियों के अन्तर्गत स्वामी जी ने वेद शब्द की विचारणा बड़ी उदार दृष्टि से की है। उनके कथन से स्पष्ट होता है कि वेद मानवमात्र की सत्य विद्या के साधन एवं स्रोत हैं। परन्तु उपर्युक्त परिभाषा से वेद के स्वरूप पर कोई निश्चयात्मक प्रभाव नहीं पड़ता।

विन्टरनिट्ज का मत:—विन्टरनिट्ज का विचार है कि वेद शब्द विद् जाने धातु से निष्पन्न हुआ है। इस प्रकार वेद शब्द का साधारण अर्थ ज्ञान है। परन्तु भारतीयों के वेद का अर्थ सर्वोत्कृष्ट ज्ञान (Knowledge par excellence) किया जा सकता है। वेद का तात्पर्य कुरान जैसे किसी ग्रन्थ विशेष से नहीं है और न उसका आशय किसी विशिष्ट काल में कृत बाइबिल अथवा त्रिपिटक जैसे अनेक ग्रन्थों के संग्रह से है। वेद से तात्पर्य उस समग्र साहित्य से है जिसका उद्भव और विकास अनेक शताब्दियों की अवधि में हो पाया जिसका मौखिक सञ्चारण एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को होता रहा और जिसका नाम बाद को किसी प्रागैतिहासिक पीढ़ी में वेद रख दिया गया। इस नामकरण का एक मात्र श्रेय: केवल उस साहित्य में निहित ज्ञान निधि को नहीं कहा जा सकता, क्योंकि उसके द्वारा भारतीयों को वेद को पवित्र मानने की धारणा स्पष्ट नहीं हो पाती। वेद के प्रति भारतीयों की पवित्रता की भावना उस समय स्वतः उदित हो गयी थी। यह नहीं कि आर्यों ने बैठ कर नियम बनाया हो कि आज से हम इस साहित्य को पवित्र मानेंगे। इस सम्बन्ध में हिस्ट्री आफ इण्डियन लिट्रेचर की प्रथम जिल्द के अन्तर्गत विन्टर निट्ज महोदय ने लिखा है: --

"It is here not a matter of canon which might have been fixed at some council, the belief in the sacredness of this literature arose, at it was spontaneously and was seldom disputed.

जर्मन विद्वान् विन्टर निट्ज के मतानुसार वेद शब्द का अर्थ है—ईश्वरीय ज्ञान अथवा विधान को एक जगह प्रस्तुत करने वाला वाङ्मय।

मुग्धानल (Macdenell) आदि पश्चिमी विद्वानों का भी यह विचार है।

हमारे विचार से अद्भुत प्रतिभा सम्पन्न ऋषियो द्वारा साक्षात्कृत ज्ञान राशि का नाम ही वेद है। इस प्रकार वेद शब्द का साधारण अर्थ तो ज्ञान है। किन्तु वैदिक अध्ययन के सन्दर्भ मे वेद शब्द का अभिप्राय ऋषियो द्वारा अनुभूत ज्ञान से है। इसीलिये 'ऋषियोमन्त्र द्रष्टार.' (ऋषि मन्त्रों के द्रष्टा है) उक्ति प्रसिद्ध है। वस्तुत. वेद अपौरुषेय एवं नित्य है। प्रलय काल मे वेदों का तिरोधान मात्र होता है न कि पूर्णतया अन्त।

सृष्टि के आरम्भ मे महर्षियों को अपने तपोबल से वेद का साक्षात्कार होता है।

आज जिस साहित्य को वेद अथवा वैदिक कहा जाता है उसके अन्तर्गत संहिता-साहित्य, ब्राह्मण-साहित्य, आरण्यक-साहित्य, उपनिषत् साहित्य एवं वेदाङ्ग साहित्य आता है। इस स्थल पर इन सब के सम्बन्ध मे पृथक् पृथक् विवेचन किया जायगा।

(१) संहितायें

वैदिक साहित्य का प्रथम रूप संहितायें है। संहिता का अर्थ है संग्रह (Collection)। फलत: संहिताओं में देवस्तुतिओ, गीतों, याज्ञिक मन्त्रों तथा ऐन्द्रजालिक मन्त्रों के संग्रह वर्तमान है। प्रारम्भ मे जिस समय मन्त्रों का निर्माण हुआ था, उसके बहुत बाद तक आर्य-कवियो (ऋषियो) की कविताओं का सञ्चारण अलग-अलग मौखिक परम्परा द्वारा हुआ करता था। भारतीय मान्यता के अनुसार कृष्ण द्वैपायन व्यास ने उन प्रकीर्ण कविताओ का संग्रह कर दिया। इस प्रकार का सर्वप्रथम एवं प्राचीन संग्रह ऋग्वेद संहिता है। व्यास ने ही (सम्भवत: व्यास गोत्र के अन्य ऋषि ने) यज्ञापेक्षा से सामवेद, यजुर्वेद और अथर्व वेद संहिता का संग्रह बाद मे किया। इस प्रकार संहितायें चार है—ऋग्वेद, सामवेद और यजुर्वेद और अथर्व वेद।

संहिता रूप मे संगृहीत होने के पश्चात् भी इनका सञ्चारण उसी

मौखिक परम्परा द्वारा होता रहा। देश और काल भेद से इस मौखिक परम्परा में उच्चारणादि से सम्बन्धित भेदो का आना स्वाभाविक ही था। अत: मूल रूप में सहितायें चार होने पर भी, इन भेदों और उनके प्रभेदों के कारण प्रत्येक सहिता की अनेक शाखयें हो गई। परन्तु शाखा भेद होते हुये भी सहिताओं का मूल पाठ वही था, जो सग्रह के समय व्यास के के सम्मुख था। सभी शाखाओं की सहितायें मान्य थी। लेखन कला के प्रचलित होने पर, प्रत्येक शाखा ने जो उस समय तक जीवित रह गई थी, अपनी शाखा के समग्र साहित्य को लिपिबद्ध करते समय, सहिता को भी लिपिबद्ध किया। तत् पश्चात् मौखिक परम्परा शिथिल ही हो गई। विविध शाखाओं को सहितायें और तत्सम्बन्धी साहित्य अब लुप्त हो चुका है। अधुना कतिपय सहितायें ही उपलब्ध होती है। हमारे ज्ञान का आधार यही उपलब्ध सहितायें हैं। अब यहाँ क्रमश प्रत्येक संहिता और उससे सम्बन्धित अन्य विषयो के सम्बन्ध मे विचार किया जायगा।

(क) ऋग्वेद संहिता

प्रामाणिकता, प्राचीनता एव विषय विवेचन की दृष्टि से ऋग्वेद सहिता का महत्व अग्रगण्य है। ऋग्वेद संहिता ऋचाओं का संग्रह है और ऋचा का आशय देव-स्तुति है। (ऋच्यनो स्तूयतेऽनयेति ऋक्) कहना न होगा कि ऋग्वेद संहिता में आद्योपान्त विविध देवताओं को समर्पित देवस्तुतियां ही उपलब्ध हैं। ये ऋचायें काव्य रूप हैं और ऋषि कवियों की काव्य-निर्मात्रि शक्ति की परिचायक है। होता नामक पुरोहित इस संहिता की ऋचाओं का यज्ञ की दृष्टि से आवश्यकतानुसार पाठ किया करता था।

ऋग्वेद का विभाजन

ऋग्वेद का विभाजन दो प्रकार से किया गया है—एक अष्टक क्रम से और दूसरा मंडल क्रम से।

ऋग्वेद का काल निर्णय

भारतीय साहित्य की प्राचीनतम निधि ऋग्वेद का काल निर्णय अत्यन्त महत्वपूर्ण प्रश्न है। यह प्रश्न महत्वपूर्ण इसलिये है कि ऋग्वेद के काल निर्णय पर ही समस्त भारतीय साहित्य का काल निर्धारण अवलम्बित है। भारतीय संस्कृति का प्राचीनतम आधार होने के कारण भी ऋग्वेद के काल निर्धारण की महत्ता स्पष्ट ही है। भारतीय परम्परा के अनुसार तो श्रुति को नित्य मानने के कारण ऋग्वेदादि के काल निर्धारण का प्रश्न ही नहीं उपस्थित होता। परन्तु भारतीय परम्परा के अनुसार भी श्रुति की नित्यता के सम्बन्ध में अनेक मत मिलते हैं। यहाँ कतिपय महत्वपूर्ण मतों का उल्लेख करना उचित ही होगा।

१—नैयायिक वैशेषिकों का मत

वेदों की नित्यता के सम्बन्ध में नैयायिक एवं वैशेषिकों का मत है कि यदि वेद को नित्य न माना जायेगा तो वेद वाक्य और साधारण शब्दों से निर्मित वाक्यों मे अन्तर ही क्या रह जायेगा। वेद नित्य हैं, परन्तु साधारण शब्द अनित्य हैं। महा प्रलय के बाद भी वेद अक्षुण्ण रहता है, इसीलिये वह नित्य शाश्वत् धर्मगोप्ता ही धर्म प्रतिवादक वेद का आदि वक्ता है। उसी के प्रामाण्य से वेद का भी प्रामाण्य है।

(२) सांख्य-योगदार्शयिकों का मत

सांख्य एवं योग दर्शन के आचार्यों का कथन है कि वेद पौरुषेय नहीं हैं। इन आचार्यों का विचार है कि यदि वेद पौरुषेय हुए होते तो उनकी उत्पत्ति अन्य वस्तुओं की उत्पत्ति की तरह सोच-विचार कर की गई होती। परन्तु ऐसा नहीं है। वेद तो महाभूत के निःश्वास हैं, निःश्वास की उत्पत्ति सोच-विचारकर नहीं की जाती। उसका आविर्भाव तो स्वयं ही होता है। अतः इन आचार्यों के मतानुसार वेद के अपौरुषेय होने के कारण उसके काल-निर्धारण का प्रश्न नहीं उपस्थित होता।

(३) मीमांसकों का मत

पूर्व मीमांसा एवं उत्तर मीमांसा दोनों के ही अनुयायी आचार्य वेद को नित्य मानते हैं, क्योंकि वे आप्त-वाक्य हैं।

इस प्रकार प्राचीन भारतीय परम्परा के अनुसार वेद नित्य एवं अपौरुषेय हैं। परन्तु पाश्चात्य विद्वान् तथा उनके अनुयायी अनेक भारतीय विद्वान् वेद को नित्य ज्ञान न स्वीकार करके, साहित्यिक कृतियों के रूप में ही स्वीकार करते हैं तथा इनकी रचना ऋषि कवियों द्वारा की गई मानते हैं। इसी मान्यता के आधार पर इन विद्वानों ने ऋग्वेद आदि वेदों के रचनाकाल का निर्णय करने का प्रयत्न किया है। परन्तु पाश्चात्य दृष्टिकोण से किये गये काल निर्णय के अध्ययन के सम्बन्ध में भी विद्वानों के भिन्न-भिन्न मत मिलते हैं। अध्ययन के सौविध्य के लिये इन मतों का वर्गीकरण इस प्रकार किया जा सकता है—

१—भौगोलिक तथ्यों पर आधारित मत

ऋग्वेद में उपलब्ध कतिपय भौगोलिक संकेतों को आधार बनाकर कुछ विद्वानों ने अपने सिद्धान्त प्रतिपादित किये हैं। इस प्रकार के मतों में भारतीय विद्वानों के मत विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं:—

(क) **अविनाशचन्द्र का मत**—Rigvedic India नामक ग्रन्थ के अन्तर्गत अविनाशचन्द्र ने ऋग्वेद में आए हुए चार समुद्रों के सङ्केत से यह धारणा बनाई हैं कि ऋग्वेद की रचना के समय ऋग्वेद के चारों ओर समुद्र थे। एच० जी० वेल्स (H. G. Wells) ने अपनी The outlines of History नाम की पुस्तकों में ऐसे काल को ईसा से पूर्व ७५०००—२५००० तक माना है। अतः इसी आधार पर अविनाशचन्द्र भी ऋग्वेद का रचना काल ७५००० —२५००० ई० पू० मानने के पक्षपाती हैं।

(ख) **डा० सम्पूर्णानन्द का मत**—डा० सम्पूर्णानन्द ने Home Aryans नामक पुस्तक में ऋचाओं में भूकम्पों के कुछ सङ्केत ढूंढ निकाले हैं। इन

सङ्केतों के आधार पर ही डा० सम्पूर्णानन्द का मत है कि ऋग्वेद काल में निरन्तर भूकम्प आया करते थे। इस अवस्था को आर्यों ने स्वयं देखा था। यह अवस्था ५००००—२५००० ई० पू० तक रही। अतः यही ऋग्वेद का रचना काल होना चाहिये।

आलोचना:—भौगोलिक तथ्यों पर आधारित ये मत समीचीन नहीं प्रतीत होते। इनकी असमीचीनता के सम्बन्ध में हमारा पहला तर्क है कि जिन मन्त्रों में इन विद्वानों ने ये संकेत ढूंढे हैं, उनका अर्थ सन्दिग्ध है। दूसरे चतुः समुद्र का उल्लेख भी यथार्थ न होकर काल्पनिक ही प्रतीत होता है। इस सम्बन्ध में हमारा तीसरा तर्क यह है कि यदि इतनी पहले (२५००० ई० पू०) ऋग्वेद की रचना स्वीकार कर ली जाये तो तब से लेकर लौकिक संस्कृत के उदय काल तक कर्मशील आर्यों ने क्या किया? इस प्रश्न का उत्तर नहीं दिया जा सकता।

१—ऐतिहासिक तथा सांस्कृतिक तथ्यों पर आधारित मत

कतिपय विद्वानों ने ऐतिहासिक तथ्यों के आधार पर ऋग्वेद का रचना-काल निर्धारित किया है। इन विद्वानों में जर्मन विद्वान् वेबर एवं मोक्षमूलर प्रमुख हैं।

(क) वेबर का मत :— जर्मन विद्वान वेबर ने History of Indian literature नामक ग्रन्थ में यह मत प्रकट किया है कि ऋग्वेद के प्राचीन अंश आर्यों के पंजाब-निवास के सूचक हैं। अन्य सहितायें उनके (आर्यों के) क्रमशः पूर्वी विस्तार की परिमापक हैं। महाभारत और रामायण आर्यों के दक्षिणी विस्तार के सूचक हैं। जंगली और शक्तिशाली जातियों से बसे हुए इस दक्षिणी भारत के उपनिवेशन और ब्राह्मणीकरण में शताब्दियों की अवधि लगी होगी। दूसरे, ऋग्वेद संहिता में चित्रित सरल-सीधी प्रकृति पूजा से लेकर उपनिषदों में प्रतिपादित मनन प्रधान दार्शनिक सिद्धान्तों और ३०० ई० पू० मेगस्थनीज को मिले पुराण तथा धर्म सम्प्रदाय वाली

दशा तक पहुंचने में नि:सन्देह अनेक शताब्दियाँ लगी होंगी। इतना कहकर वेबर मौन हो गये, क्योंकि उनका विचार था कि इस काल को ठीक-ठीक निर्धारित करने का यदि प्रयत्न भी किया जाये तो व्यर्थ होगा।

(ख) **मैक्समूलर का मत** :- ऐतिहासिक मतों में मैक्समूलर का मत विशेष उपादेय है। मैक्समूलर के मतानुसार बौद्ध धर्म वैदिक साहित्य की पूर्व विद्यमानता स्वीकार करता है। अतः समस्त वैदिक साहित्य की रचना ५०० ई० पू० से पूर्व की ही निश्चित होती है। वेदाङ्गों की रचना का आरम्भ बौद्ध धर्म के उदय का समकालीन मानकर वे उसका समय ६०० – २०० ई० पू० तक निर्धारित करते हैं। फिर ब्राह्मण ग्रन्थों में दी गई गुरु परम्परा के आधार पर वे उनके रचना काल का विस्तार २०० वर्ष मानकर ८०० – ६०० ई० पू० निश्चित करते हैं। संहिताओं की रचना के लिये वे २०० वर्ष देकर उनका समय १०००—८०० ई० पू० निर्धारित करते हैं। संहिताओं का रूप तो बाद में दे दिया गया। मन्त्रों की रचना उससे भी पहिले हो चुकी थी। उनके रचना काल को मैक्समूलर १२००— १००० ई० पू० मानते हैं।

आलोचना: (१) ब्हूलर महोदय का विचार है कि बोधाय और आपस्तम्ब नामक वैदिक शाखायें दक्षिणात्य थीं। परन्तु क्या मैक्समूलर के द्वारा निर्धारित केवल ५०० वर्ष आर्यों के दक्षिणी विस्तार, उपनिवेशन, ब्राह्मणीकरण तथा दाक्षिणात्यों में अपने धर्म के प्रति स्वाभाविक आस्थायी स्थापना के लिये पर्याप्त माने जा सकते हैं, जिससे वहां शाखाओं का जन्म सम्भव हुआ।

(२) जैन धर्म भी ब्राह्मण धर्म की प्रतिक्रिया है, जो वैदिक साहित्य की पूर्व विद्यमानता स्वीकार करता है। तो फिर मैक्समूलर ने बौद्ध धर्म के उदय को ही ध्यान में रखकर मन माना काल-क्रम क्यों स्थापित किया ? यह नहीं कहा जा सकता।

३—ज्योतिष के तथ्यों पर आधारित मत

कुछ एक विद्वानों ने, वैदिक साहित्य के अन्तर्गत उपलब्ध ज्योतिष के संकेतों के आधार पर ऋग्वेद के काल-निर्णय का प्रयत्न किया है। इनमें से यहाँ कतिपय प्रमुख मत नीचे दिये जा रहे हैं --

(१) **लुडविग का मतः**—लुडविग ने वेद में सूर्य ग्रहण का संकेत ढूंढकर ऋग्वेद की रचना के काल के विषय में निर्णय दिया था। परन्तु बाद के मतों के प्रकाश में आने पर उनका मत तुच्छ सिद्ध हो गया।

(२) **डा० हाग का मतः** – डा० हाग ने वेदाङ्ग ज्योतिष के एक संकेत के आधार पर उसका समय ११८६ ई० पू० प्रतीत होता है, लिखा है। इसे सूत्रकाल मानने के पश्चात् ब्राह्मणों का समय २०००—१२०० ई० पू० तथा संहिताओं का रचना काल २५२० — २००० ई० पू० तक माना जाना चाहिये। यही डा० हाग का मत है।

(३) **जैकोबी का मतः**—जर्मन विद्वान् जकोबी ने गृह्य सूत्र में उल्लिखित एक प्रथा के आधार पर यह धारणा प्रकट की है कि यह प्रथा 'ध्रुव' की समकालीन थी। जैकोबी ने ध्रुव नक्षत्र का समय ३००० ई० पू० स्वीकार किया है। दूसरी ओर ऋग्वेद की विवाह विषयक ऋचाओं में इस प्रथा का अनुल्लेख उस काल में ध्रुव नक्षत्र के अभाव का सूचक प्रतीत होता है। ऐसी स्थिति ४५०० ई० पू० ही मानी जानी चाहिये। जैकोबी के मतानुसार यही ऋग्वेद का रचना काल है।

(४) **तिलक का मत** – भारतीय विद्वान् तिलक ने शतपथ ब्राह्मण में उल्लिखित वसन्त सम्पात के समय कृत्तिका नक्षत्र का संयोग देखकर उसका काल ज्योतिष गणना के आधार पर ३००० ई० पू० माना है। ऋग्वेद संहिता में वसन्त सम्पात के समय मृगशिरा नक्षत्र का संयोग देखकर वे यह अनुमान लगाते हैं कि शतपथ ब्राह्मण के रचना काल तक एक नक्षत्र पूर्ण रूप से पीछे हट गया था। एक नक्षत्र के पीछे हटने में लगभग ९७२ वर्ष लगते हैं। अतः इस प्रकार ऋग्वेद के प्राचीनतम अंश की रचना का काल हम ४५०० ई० पू० मान सकते हैं।

आलोचना —उपर्युक्त मतों के सम्बन्ध में मैक्डोनल महोदय का कथन है कि उपर्युक्त मतों के अन्तर्गत की गई गणना का आधार यह धारणा है कि प्राचीनकाल में भारतीयों को खगोलविद्या का पूर्ण ज्ञान था। मैक्डॉनल की निम्नलिखित पंक्तियों का यही आशय है —

These calculations are based on thc assumption that the early Indians possessed an exact astronomical knowledge······ there is no evideuce or even probability.

(४) पुरा तत्वों के तथ्यों पर आधारित मत

एशिया माइनर में बोगाचकोई नामक स्थान पर ह्यूगो विकलर को खुदाई करते समय कुछ मृत्पट्टिकाएं मिली हैं, जिन में किसी सन्धि का अभिलेख विद्यमान है। इस सन्धि में 'हिटाइट' और 'मितानी', ये दो राजाओं के नाम हैं। साक्षी के रूप में चार देवताओं मित्रा, वरुण, इन्द्र, और नासत्यो का भी उल्लेख है। निःसन्देह ये नाम ऋग्वैदिक देवताओं के भी है। इस लिए इस अभिलेख के आधार पर पाश्चात्य विद्वानों ने ऋग्वेद के रचनाकाल को निर्धारित करने का प्रयत्न किया है। इस सम्बन्ध में हम यहाँ कतिपय प्रमुख पाश्चात्य विद्वानों के मत प्रस्तुत कर रहे हैं —

(१) एड० मेयर का मत

एडमेयर इन देवताओं को इन्डो-ईरानियन युग का मानते हैं। इस सन्धि के समय तक ईरानी और आर्य ये दोनों जातियाँ अभिन्न थीं। इसी समय ऋग्वेद के प्राचीनतम सूक्तों की रचना हुई होगी। यह समय १५०० ई० पू० के पश्चात् नहीं माना जा सकता।

(२) ओल्डेन वर्ग, हिले ब्राँ और स्टेन कोनो का मत

ओल्डन वर्ग के मत में सन्धिकाल में उल्लिखित देवता भारतीय आर्यों की पश्चिमी शाखा के हैं। परन्तु वे यह नहीं बताते कि यह पश्चिमी शाखा जोरोस्टर कालीन ईरानियों वाली है अथवा उससे भिन्न। हिलेब्राँ तथा कोनों

के प्रश्न का उत्तर देते हुए हम कहते हैं कि ये देवता भारतीय ही हैं और वैदिक तो हैं ही। जिस प्रकार कुछ आर्य भारत की ओर बढ़े उसी प्रकार कभी-कभी कुछ आर्य लोग पीछे भी लौटते थे, क्योंकि वे अभी ईरान से बहुत दूर नहीं पहुँचे थे। अतः सम्भव है अभी तक उनमें विवाहादि सम्बन्ध भी बने रहे हों। बोगाजकोई के लेख इस बात के सूचक हैं कि १४०० ई० पू० तक आर्य जाति बहुत दिनों से उत्तर पश्चिमी भारत में रहती रही। उस समय तक उनके देवता भी एक ही थे। फिर उन्हीं आर्यों में ही कुछ शाखाएं १४०० ई० पू० में ईरान लौट गईं। जिनके राजा 'मितानी' ने यहाँ के राजा 'हिटाइट' के साथ सन्धि की। अतः ऋग्वेद संहिता के कतिपय सूक्त, जिनमें इन चार देवताओं की स्तुति है, उस समय तक अवश्य निर्मित हो गए होंगे।

(५) भाषा-वैज्ञानिक तथ्यों पर आधारित मत

एकाधिक पश्चिमी विद्वानों ने इन्डो-ईरानियन परिवार की भाषाओं के तुलनात्मक अध्ययन के आधार पर ऋग्वेद के तिथि निर्णय का प्रयत्न किया है। यहाँ हम उक्त विद्वानों में से कतिपय प्रमुख विद्वानों के मतों का ही उल्लेख करेंगे।

(१) मुग्धानल Macdonell का मत

अपने इतिहास ग्रन्थ की भूमिका में मुग्धानल महोदय ने अवेस्ता और ऋग्वेद की भाषा गत तुलना के आधार पर अपना यह मत प्रकट किया है कि किसी समय आर्य और पारसी एक ही जाति थी। वैदिक साहित्य के आरम्भ से कुछ ही पूर्व वे उत्तर पश्चिमी भारत में आए। संहिताओं में प्रतीयमान क्रमिक भाषा परिवर्तन के लिए मैग्डोनल ने ३०० वर्ष का समय दिया है। फिर वे मैक्समूलर द्वारा प्रतिपादित संहिताओं के रचना-काल को भाषा वैज्ञानिक निष्कर्ष से सबल बनाकर १००० बी० सी० के स्थान पर १३००—१००० बी० सी० स्थापित करते हैं।

आलोचना—संहिताओं की भाषा पुरोहिती है। पुरोहिती भाषा के परिवर्तन के लिए ३०० वर्ष की अवधि बहुत कम है।

(२) इप्सन का मत

इप्सन महोदय का मत है कि ऋग्वेद में प्रयुक्त 'ताम्र', 'गो' और 'नक्षत्र' का अर्थ देने वाले शब्दों की उत्पत्ति भारोपीय काल से सम्बन्ध है, क्योंकि आर्यों ने यह शब्द सुमेरियनों से उधार लिये। भारोपीय युग ३०००–२१०० ई० पू० से पूर्व का नहीं माना जा सकता। ऋग्वेद की रचना इसी समय हुई होगी

आलोचना—उपर्युक्त अर्थ के वाचक शब्दों की उत्पत्ति के लिए इप्सन महोदय आर्यों को सुमेरियनों से सम्बन्धित बताते हैं। भारतीय प्रागैतिहासिक तत्वों से विदित होता है कि ताम्र और 'गो' यहाँ की प्राचीन वस्तुएँ हैं। अतः उनके वाचक शब्दों का यहाँ क्या अभाव होगा।

(३) रैप्सन श्रोडर एवं ग्रैंट आदि का मत

रैप्सन महोदय का विचार है कि ऋग्वेद की भाषा और अवेस्ता की ईरानी भाषा में अधिक साम्य है। कुछ ध्वनि भेदों को छोड़कर, शतों शब्द दोनों भाषाओं में बिलकुल एक हैं। जैसे सप्त, (हप्त) यज्ञ (यस्‌ज्ञ), हिम (जिम), आदि। पादरी ग्रैंट इसी निष्कर्ष पर पहुँच कर ऋग्वेद का रचना काल २००० ई० पू० मानते हैं। विद्वान् श्रोडर ने यह तिथि १५०० ई० पू० मानी है।

विन्टर निट्स द्वारा की गई आलोचना और उनका मत

विन्टर निट्स ने उपर्युक्त मतों की आलोचना की है। ज्योतिष सम्बन्धी मत के सम्बन्ध में विन्टर निट्स का विचार है कि ज्योतिष की सहायता से किए गए तिथि निर्णय के प्रयास इस लिए असफल होते हैं कि वैदिक साहित्य के उन अंशों का अर्थ अनिश्चित है, जिन से ज्योतिष सम्बन्धी सङ्केत प्राप्त होते हैं। ऐतिहासिक तथ्यों पर आधारित मतों के सम्बन्ध में विन्टर निट्स महोदय का विचार है कि इतिहास सम्बन्धी कल्पनाएँ इतनी अनिश्चित हैं हैं कि उन से परस्पर विरोधी अर्थ निकलते हैं। पुरा तत्व सम्बन्धी मत के सम्बन्ध में इस विद्वान् का विचार है कि पुरातत्व विज्ञान के प्रमाण द्वारा

भारत का लघु एशिया से सम्बन्ध सिद्ध होता है। यह प्रभाव वैदिक संस्कृति को २००० ई० पू० तक स्थापित करता है।

भाषा वैज्ञानिक तथ्यों के सम्बन्ध में विन्टर निट्स का तर्क है कि एक ओर वेद और अवेस्ता की भाषाओं का गहरा सम्बन्ध और दूसरी ओर वैदिक भाषा और लौकिक संस्कृत का सामीप्य किसी भी निश्चित निष्कर्ष पर नहीं पहुंचाते। ये भाषा वैज्ञानिक तथ्य इतना अवश्य करते है कि भौगोलिक एवं ज्योतिष के तथ्यों के आधार पर अतिशयोक्ति पूर्ण तिथि मानने से रोकते हैं।

इस प्रकार बहिः साक्ष्य सम्बन्धी प्रमाणों को असङ्गत मानते हुए अन्तः साक्ष्य सम्बन्धी प्रमाणों का आश्रय लेना अपेक्षित ही है। विन्टर निट्स आन्तरिक प्रमाणों में सर्वाधिक महत्वपूर्ण एवं बलिष्ठ इस प्रमाण को मानते हैं कि पार्श्वनाथ, महावीर और बुद्ध वेद को हर प्रकार के उद्देश्य और निर्णय के लिए पूर्व विद्यमान मानते हैं। इस प्रकार यह अन्तिम सीमा है, जिसके आगे हम नहीं बढ़ सकते। अब यदि १२०० या १५०० ई० पू० को वेद का प्रारम्भ बिन्दु मान लिया जाए तो सम्पूर्ण वैदिक साहित्य का विकास नहीं समझाया जा सकता। अतः इस विकास का प्रारम्भिक काल हमें २००० ई० पू० या २५०० ई० पू० स्वीकार करना पड़ेगा और अन्तिम काल कहीं ७५० ई० पू० और ५०० ई० पू० के मध्य मानना होगा। परन्तु इस प्रकार अनेक तर्क देने के पश्चात् भी विन्टरनिट्स को अपने मत पर अधिक विश्वास नहीं है। इसीलिए वें लिखते हैं—

"The more prudent course, however, is to steer clear of any fixed dates and to guard against the extremes of stupendously ancient period or a ludicrously modern period."

समालोचना—हमारे विचार से उपर्युक्त सभी मतों में विन्टरनिट्स का मत सर्वाधिक सङ्गत प्रतीत होता है। यदि संहिताओं का रचना काल विन्टरनिट्स २५०० ई० पू० मानते हैं तो मन्त्र काल कुछ और पीछे हट

जायगा और यह अवधि (३००० ई० पू०) लगभग वहीं पहुँच जाएगी, जहां से भारतीय परम्परा के अनुसार कलियुग का प्रारम्भ हुआ। कलियुग के प्रारम्भ में ही महर्षि व्यास ने वेद को चार संहिताओं में विभक्त किया। ३००—१००० ई० पू० तक के २००० वर्षों ने निःसन्देह ब्राह्मण साहित्य अरण्यक और उपनिषद् साहित्य का विकास देखा होगा। लगभग यही समय लौकिक संस्कृत का उदय काल भी है, जिसकी अपेक्षा मे पाणिनि ने अपनी अष्टाध्यायी लिखी होगी। अत: यह उचित ही प्रतीत होता है कि ८०० ई० पू० उदित होने वाले जैनधर्म और ६०० ई० पू० में आविर्भूत होने वाले बौद्ध धर्म ने समस्त वैदिक साहित्य की पूर्व-विद्यमानता स्वीकार की। इन्हीं धर्मों के समानान्तर वेदांगों की रचना हुई थी।

ऋग्वेद का विन्यास-क्रम (Arrangement of Rigveda)

वेद को अपौरुषेय स्वीकार करने वाले भारतीयों के सामने यह प्रश्न ही नहीं उपस्थित होता कि वेद के कुछ भाग की रचना पहिले हुई कुछ भाग की पश्चात्। उसके लिए वेद नित्य वस्तु है, उसमें उपचयापचय कभी नहीं हुआ। वेद को अपौरुषेय माननेवाले भारतीयों के अनुसार वेद की रचना किसी काल-क्रम के अनुसार नहीं हुई। परन्तु जब से वेद का अध्ययन पाश्चात्य विद्वानों ने आरम्भ किया है, इस बात को कई वैज्ञानिक आधारों पर सिद्ध करते हैं, कि ऋग्वेद आर्यों की प्राचीनतम साहित्यिक कृति है और उसमें किसी एक नहीं प्रत्युत उन अनेक ऋषिकवियों की रचनाऐं संगृहीत हुई हैं जो समकालीन नहीं कहे जासकते। पाश्चात्य विद्वानों का विचार है कि समस्तसूत्रों एवं मण्डलों का संग्रह समकाल में नहीं हुआ है, वरन् शताब्दियों में अलग-अलग हुआ है। घाटे जैसे भारतीय विचारक भी पाश्चात्यों के उक्त मत से सहमत हैं। घाटे साहब ने लिखा हैं:—

"It is rather a compilation of several books which can be individually distinguished from each other.

तीन स्कूल भाग—

काल क्रम की दृष्टि से ऋग्वेद का विन्यास क्रम इस प्रकार प्रतीत होता है कि सर्वप्रथम द्वितीय से सप्तम मण्डलों तक छः मण्डलों से सूक्तों का विन्यास हुआ और इसके पश्चात् प्रथम मण्डल और अष्टम मण्डल का। तत् पश्चात् नवम मण्डल का विन्यास भी ऋग्वेद में किया गया और दशम मण्डल का विन्यास भी सब से बाद में किया गया। इस प्रकार ऋग्वेद के विन्यास में तीन स्कूल भाग स्पष्ट प्रतीत होते हैं। द्वितीय से सप्तम तक के वंशमण्डल नाभि स्वरूप हैं—जिनके आगे और पीछे प्रथम, अष्टम, नवम और दशम मण्डल बाद में जोड़ दिए गए हैं। इन तीन भागों के क्रमशः सग्रह (विन्यास) के लिए कतिपय आन्तरिक एवं बाह्य प्रमाण दिये जा सकते हैं।

आन्तरिक प्रमाण—

(१) द्वितीय से सप्तम मण्डल तक के छः मण्डलों के समकालीन विन्यास में कुछ निश्चित आन्तरिक प्रमाण उपलब्ध होते हैं। इन मण्डलों में प्रत्येक मण्डल किसी एक ऋषि वंश (अथवा ऋषि) द्वारा रचित है। मंडल क्रम से ये ऋषि इस प्रकार हैं—गृत्समद, विश्वामित्र, वामदेव, अत्रि, भारद्वाज और वसिष्ठ। इसके अतिरिक्त सूक्तों की योजना में भी कुछ समता प्रतीत होती है। प्रत्येक मण्डल के प्रथम अनुवाक में सर्व प्रथम अग्नि और उसके पश्चात् इन्द्र की स्तुति की गई है। शेष अनुवाकों में अन्य देवताओं की स्तुति बिना किसी क्रम-साम्य के की गई है। तीसरी बात यह है कि इन मण्डलों में सामान्यतः सूक्तों की संख्या क्रमश. वृद्धि को प्राप्त होती चली गई है, यदि अपवाद स्वरूप कतिपय सूक्तों को बाद में जुड़ा हुआ समझ कर अलग कर दिया जाय।

(२) प्रथम मण्डल के दूसरे भाग में ९ अनुवाक हैं जिनमें प्रत्येक का रयचिता एवं भिन्न ऋषि है। ऐसी सम्भावना है कि ये अनुवाक वंशमण्डलों से पूर्व जोड़ दिए गए जो सिद्धान्ततः वंश मंण्डलों का आदर्श उपस्थित करते हैं। इन अनुवाकों के सूक्तों की योजना वंशमण्डलों के सूक्तों के ही समान है। अतः इतने अंशका विन्यास नाभिरूप उन मण्डलों ही के पश्चात् हुआ होगा।

(३) अष्टममण्डल के समस्त सूक्तों का विन्यास एक साथ ही हुआ होगा, क्योंकि उसमें सैद्धान्तिक एकता पाई जाती है। समस्त सूक्तों में कुछ पद्यों (Stanzas) और पादों की पुनरावृत्ति हुई है। अष्टम मण्डल को वंशमण्डल नहीं माना जा सकता। यह मण्डल वंश मण्डलों की तरह अपने सूक्तों का आरम्भ अग्नि से नहीं करता। वंश मण्डलों के विपरीत इस मण्डल के सूक्त वाक् और अङ्गिरा द्वारा रचित हैं। यद्यपि अधिकतर सूक्त कण्वकृत है तथापि आंशिक साम्य इस बात का संकेतक है कि वंश मण्डलों के बाद संहिता में सर्व प्रथम इसी मण्डल को जोड़ा गया। यहाँ एक बात ध्यान देने योग्य है कि प्रथम मण्डल का पूर्व भाग इस अष्टम मण्डल से उसी प्रकार घनिष्ठ सम्बन्ध रखता है जिस प्रकार ऊपर भाग वंश मण्डलों से घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित है। इस भाग के भी आधे से अधिक सूक्त कण्व कृत ही हैं। इन सूक्तों का अष्टम मण्डल के साथ छान्दस साम्य भी है। फिर कुछ समानार्थक ऋचाएँ और कुछ पूर्णरूप से वही ऋचाएँ भी उभयत्र विनियुक्त हुई हैं। परन्तु इन दोनों - प्रथम और अष्टम मण्डल में कौन अधिक प्राचीन है, यह नहीं कहा जा सकता। ऐसा प्रतीत होता है कि समान स्वरूप वाले इन दोनों मण्डलों को वंश मण्डलों के पूर्व और पश्चात् जोड़ दिया गया है। ऐसा या तो इस लिए हुआ होगा कि उनमें काल-क्रम का इसी प्रकार का पर्वापर सम्बन्ध है और या इसलिए कि ये दोनों दो भिन्न कण्व शाखाओं की कृतियाँ हैं।

(४) नवम मण्डल के विन्यास के सम्बन्ध में यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि उसका विन्यास उस समय हुआ था जब आठ मण्डल संगृहीत हो चुके थे। इस मण्डल के समस्त सूक्त 'पवमान सोम' को अर्पित है, जिसका वंशमण्डलों में एक दम अभाव है। तथापि इन सूक्तों के ऋषि वे ही हैं जो वंश मण्डलों के ऋषि हैं। प्रथम और अष्टम मण्डल के साथ भी इस मण्डल का कुछ साम्य है। वह यह कि इन्हीं दो मण्डलों में सोम सम्बन्धी तीन सूक्त मिलते हैं। अतः ऐसा प्रतीत होता है कि जिस समय

वंश मण्डलों का विन्यास हो चुका तथा प्रथम और अष्टम मण्डल भी संगृहीत हो चुके थे, उस समय इन मंडलों से 'सोम' देवता से सम्बद्ध प्रायः सभी सूक्त ले लिए गए और उन्हें अलग से एक मंडल में संगृहीत किया गया।

५—दशम मण्डल का विन्यास नव मण्डलों के पश्चात् का है। एक अनुवाक का ऋषि कवि सूक्तों का प्रारम्भ 'अग्नि' 'ईले' पदों से करता है। ये शब्द प्रथम मण्डल के प्रथम सूक्त में पाये जाते हैं। इससे इस बात की पुष्टि होती है कि इन सूक्तों के प्रणेता ऋषि अनेक थे तथा विभिन्न गोत्रों से सम्बन्धित थे। इस मण्डल की सूक्त संख्या (१९१) भी प्रथम मण्डल के समान है। दशम मण्डल के समान सूक्त एक साथ ही विन्यस्त हुये। कई अनुवाकों में सूक्त संख्या क्रमशः न्यूनतर होती गई है। ऐसे सूक्त ८५ हैं। फिर ८५ से १९१ तक के सूक्तों में ऋचाओं की संख्या क्रमशः न्यूनतर होती गई है।

बाह्य प्रमाण— घाटे महोदय ने अपने 'लेक्चर्स' के अन्तर्गत आश्वलायन गृह्य सूत्र से एक प्रमाण उद्धृत किया है जिसके अनुसार गृह्य सूत्र के कर्त्ता ऋषि भी ऋग्वेद के तीन स्थूल भागों मे विश्वास रखते थे। उन्होने तीन प्रकार के मन्त्र प्रणेता ऋषियों का उल्लेख किया है। ये तीन प्रकार के ऋषि हैं—'शतार्चिनः, 'मध्यमाः' औ क्षुद्रसूक्ताः और महासूक्ताः।

'शतार्चिनः' वे ऋषि हैं जिन्होंने प्रथम मण्डल के सूक्तों का विन्यास किया। प्रत्येक सूक्त में लगभग १०० ऋचाये हैं। अतः 'शतार्चिनः' शब्द अन्वर्थ है। 'मध्यमाः' से उन ऋषियों से तात्पर्य है जिनका सम्बन्ध मध्य के वंश मण्डलों से है। क्षुद्र सूक्ताः' और 'महा सूक्ताः' वे ऋषि है जिन्होंने अष्टम नवम और दशम मण्डलों का विन्यास किया।

बाल खिल्य सूक्तः— ऋग्वेद के विन्यास-क्रम के सम्बन्ध में विवेचन करते समय बालखिल्य सूक्तों के स्थान का निर्णय भी महत्वपूर्ण है। ये सूक्त संख्या में एकादश हैं। ये सूक्त यद्यपि अष्टम मण्डल के अन्त में जुड़े हुए मिलते हैं,

तथापि उनका स्वतन्त्र अस्तित्व प्रतीत होता है। प्राचीन ऋषियों ने उनकी प्रामाणिकता को स्वीकार नहीं किया और न संग्रह कर्त्ताओं ने उनकी गणना मण्डल और अनुवाकों के विभाजन में की। आचार्य सायण ने भी अपने ऋग्वेद भाष्य में इन सूक्तों का भाष्य नहीं किया, यद्यपि कात्यायन की सर्वानुक्रमणी में उनका उल्लेख है। स्पष्ट है कि बालखिल्य सूक्तों का सम्बन्ध ऋग्वेद अथवा उसके अष्टम मण्डल से नहीं है। अष्टक और मण्डल क्रम में बाधक होने से भी यही बात उचित प्रतीत होती है कि ऋग्वेद के संहिता रूप में आने के बाद उन्हें मनमाने रूप से अष्टम मण्डल के पश्चात् जोड़ दिया गया।

सूक्तों में पूर्वापर की धारणा का आधार

पाश्चात्य और आधुनिक भारतीय विचारक ऋग्वेद में पूर्वापर की धारणा कुछ विशेष आधारों पर सिद्ध करते हैं। कुछ प्रमुख आधार इस प्रकार हैं।

१—पूर्व नूतन ऋषियों का उल्लेख :— ऋग्वेद में ही पूर्व और नूतन ऋषियों का उल्लेख अनेक बार किया गया है। इस सम्बन्ध में सप्तम मण्डल से निम्नलिखित मन्त्रों को उदाहरण स्वरूप प्रस्तुत किया जा सकता है—

(१) ये च पूर्वे ऋषयः ये च नूत्नाः इन्द्रब्रह्माणि।
अस्मे ते सन्तु सख्या शिवानि यूयं पात स्वस्तिभिः
जन्तत्र विप्राः ॥ (ऋग्वेद ७।२२।६)

अर्थात् सभी प्राचीन और नवीन ऋषियों ने तुम्हारे लिये स्तोत्र प्रकट किये हैं। तुम्हारी मैत्री हमारा कल्याण करने वाली हो। तुम सदा हमारा पालन करो।

(२) ते चेद्धि पूर्वे कवयः गृणन्तः।

इसी प्रकार का उल्लेख प्रथम मण्डल के अन्तर्गत अग्नि सूक्त में भी उपलब्ध होता है।

उपर्युक्त तर्कों के आधार पर यह निश्चय करना सरल हो जाता है कि

ऋग्वेद का प्रणयन कई ऋषि परम्पराओं द्वारा सम्पन्न हुआ है। इस कथन के समर्थन में मैक्डोनल महोदय का यह वाक्य उद्धृत किया जा सकता है—

"Some hundreds of years must have been needed for all the hymns to come into being.

२—भाषा और व्याकरण:—ऋग्वेद के समस्त सूक्तों का यदि भाषा एवं व्याकरण की दृष्टि से अध्ययन किया जाये तो भी पूर्वकालिता और अपर कालिकता का कुछ पता चल सकता है। पूर्वकालिक ऋग्वैदिक भाषा में अक्तु, अत्य: मन्मन्, वाज, विप्र, क्षिति, अवस्यु, चर्षणि आदि शब्दों का प्रयोग प्रचलित है जब कि अर्वाचीन अंश में रोग, जादू एवं लोक विश्वास से सम्बन्धित शब्दों का विनियोग अधिकतर मिलता है। परन्तु डा० विन्टरनिट्ज भाषा के आधार को प्रामाणिक नहीं स्वीकार करते। विन्टर निट्ज का विचार है कि भाषा सम्बन्धी अन्तर काल भेद के ही कारण नहीं, वरन् विषय भेद के करण भी हो सकता है। उदाहरण के लिये इन्द्र स्तुति के गीतों और ऐन्द्र जालिक मन्त्रों की भाषा का भिन्न होना स्वाभाविक है। परन्तु यह भेद उनकी काल सम्बन्धी पूर्वापरता का निश्चित रूप से द्योतक नहीं कहा जा सकता। इ० जे० रेप्सन ने भी अपनी Cambridge History of India में भी इस आधार की दुर्बलता का उल्लेख किया है। रेप्सन महोदय लिखते हैं—

"As far as linguistic evidence is concerned, it affords little help in discriminating periods withcn the Rigveda except with regard to the tenth book. For htrough the hymns, inspite of number of authors, the same language prevails."

घाटे साहब ने व्याकरण सम्बन्धी सूक्ष्म भेद को पूर्वापरता का प्रबल कारण माना है। उनका विचार है कि प्राचीन ऋचाओं में एक सन्धि का अधिक प्रयोग हुआ है। जिसके अनुसार अय् ए, ओ, यदि अ, इ, उ परे

हों तो लुप्त हो जाते हैं। इसी प्रकार 'ऐ' और 'औ' केवल 'आ' में बदल जाते हैं। परन्तु अर्वाचीन सूक्तों में यह सन्धि नहीं मिलती। दूसरी ओर लौकिक संस्कृत की सन्धि, जिसमें 'अस्' का 'ओ' हो जाता है और 'ए' निर्विकार रहना है, का प्रयोग अर्वाचीन सूक्तों में मिलता है।

छन्द:—विद्वानों का मत है कि अष्टपदात्मक, एकादश पदात्मक अथवा द्वादशपदात्मक (उष्णिक, ककुभ, बृहती, सतोबृहती) छन्दों का प्रयोग जिस अंश में अधिक हुआ है उसे उस अंश की अपेक्षा अधिक प्राचीन माना जाना चाहिये जिसमें लौकिक संस्कृत में प्रयुक्त अनुष्टप् आदि छन्दों का प्रयोग हुआ है। इस सम्बन्ध में डा० विन्टर नित्ज लिखते हैं —

In the older poetry the अनुष्टुप
Stands far behind the गायत्री।

अथर्व वेद से साम्य—यदि ऋग्वेद का कोई भी अंश अथर्व वेद से मिलता जुलता है तो इससे उसकी अर्वाचीनता प्रतीत होती है।

विषय वस्तु की प्रकृति—वे सूक्त जो अग्नि, इन्द्र आदि देवताओं के प्रति सरल स्तुतियां हैं, उन सूक्तों से प्राचीन समझे जाने चाहियें, जिनमें 'विश्वेदेवा:' (Pantheism) की धारणा से युक्त ऋचायें मिलती हैं। इसी प्रकार दान स्तुतियां (आप्री-सूक्त), दार्शनिकता युक्त-सूक्त, ब्रह्मोद्य विमोहन और अभिचार सम्बन्धी सूक्त अर्वाचीन प्रतीत होते हैं। ऋग्वेद का वह अंश जिसमें आख्यान वर्णनात्मक हैं, उस अंश से प्राचीन माना जाना चाहिये, जिसमें आख्यान नाटकीय रूप में हैं।

उपर्युक्त तथ्यों के आधार पर ऋग्वेद के विभिन्न अंशों की प्राचीनता एवं अर्वाचीनता का अनुमान लगाया जा सकता है। इससे स्पष्ट है कि संहिता में यदि किसी अङ्क की सत्ता बाद में है तो उसे हम अर्वाचीन नहीं कह सकते और न संहिता में अपेक्षाकृत पहिले आने से किसी सूक्त को प्राचीन माना जा सकता है। दशम मण्डल के कतिपय सूत्र वंश मण्डलों से भी प्राचीन प्रतीत होते हैं।

यद्यपि अनेक विद्वानों को इन आधारों में आस्था है तथापि सभी विचारक उनका स्वागत नहीं करते। उनका विचार है कि इन आधारों की सहायता से ऋग्वेद की प्राचीनता और अर्वाचीनता का निर्णय नहीं किया जा सकता। इस सम्बन्ध में E. J. Rapson ने Cambridge History of India के अन्तर्गत लिखा है—

The certain criteria of age supplied by the language, the metres or the subject matter of the Rigveda are not sufficient to justify so elaborate and chronological arrangement of hymns. The results produc.d by the most elaborate and systematic attempts to apply the methods of higher criticism to the Rigveda have hither to failed to meet with g.neral acceptance.

ऋग्वेद और उसकी प्रामाणिकता

(Rigveda & its authenticity)

ऋग्वेद संहिता की प्रामाणिकता सिद्ध करने के लिये शिलालेख जैसे प्रमाणों का नितान्त अभाव है। फिर भी कतिपय अन्य प्रमाणों के आधार पर ऋग्वेद की प्रामाणिकता स्थापित की जा सकती है। इन प्रमाणों में कतिपय प्रमुख प्रमाण इस प्रकार हैं—

पूर्व संहिताकाल की प्रामाणिकता—संहिता रूप में आने से पूर्व ऋग्वेद की ऋचायें प्रकीर्ण रूप में वर्त्तमान थीं। उस समय उनका वही रूप रहा होगा जिसमें ऋषि कवियों ने उन्हें बनाया होगा। परन्तु 'संहिता' का रूप देते समय जब ऋचा के शब्दों का उच्चारण सन्धि सहित किया गया होगा तो उनके मूल उच्चारण में कुछ विकार अवश्य आये होंगे। यही कारण है कि वर्त्तमान ऋग्वेद संहिता की ऋचाओं में गाते समय छान्दस व्यवधान का अनुभव होता है। उसी संहित ऋचा को यदि पदपाठ में पढ़ा जाय तो यह व्यवधान दूर हो जाता है। वस्तुतः ऋचा का पदपाठ ही मौलिक ऋचा का

रूप है, जिसमें सन्धि नियम से कुछ विकार 'संहिता' के समय आ गये। अतः यह कथन सर्वथा उचित है कि यदि संहिता के पाठ को सन्धि नियमों से मुक्त कर दिया जाए तो स्वरादि की दृष्टि से ऋग्वेद का वही स्वरूप हमारे सम्मुख उपस्थित होता है, जिसमें उन्हें ऋषि कवियों ने गाया था। परन्तु इतना अवश्य है कि पदपाठ के द्वारा भी यह पता नहीं चल पाता कि मूलतः ऋग्वेद का आकार क्या था? क्योंकि पदपाठ संहितापाठ के ही आधार पर बनाया गया और संहिता स्वयं आंशिक संग्रह है। फिर भी जितने मन्त्रों का पाठ ऋग्वेद संहिता में है, उसमें कोई विकृति नहीं हो पाई है। वह पाठ पूर्ण रूप से वही है जो मूलतया था। जो कुछ स्वर सम्बन्धी विकार हैं भी, वे सन्धि नियमों के कारण ही हैं। इस प्रकार यह कथन सङ्गत ही होगा कि ऋग्वेद का संहिता रूप मूलपाठ के संरक्षण में अत्यन्त सहायक हुआ था[1]।

उत्तर संहिता काल की प्रामाणिकता—

जब संहिता पाठ के द्वारा नियमित ऋग्वेद का संगृहीत रूप में आदान प्रदान होने लगा तो उसके पश्चात् भी ऋग्वेद पूर्णरूप से वही बना रहा, इस तथ्य के समर्थन में नीचे लिखी कई युक्तियां दी जा सकती हैं।

१. **यजुर्वेदादि की रचना**—यजुर्वेद, संहिता, सामवेद संहिता और अथर्ववेद संहिता की रचना ऋग्वेद के संहिता रूप में आने के पश्चात् हुई, क्योंकि उक्त तीनों संहिताओं ने ऋग्वेद संहिता से किसी न किसी रूप में कुछ न कुछ अवश्य ग्रहण किया है। आगे चलकर इन संहिताओं से भिन्न-भिन्न शाखाओं का उदय हुआ, जिनमें कुछ पाठभेद भी मिलता है। इन विभिन्न शाखाओं से सम्बन्धित संहिताओं में उपलब्ध ऋग्वैदिक अंशों की यदि तुलना की जाए तो प्रतीत होता है कि ऋग्वेद संहिता के वर्त्तमान पाठ से उनमें कोई भेद नहीं है। ऐसे विकार जो अन्य संहिताओं के पाठ में न हों, केवल वर्त्तमान ऋग्वेद के पाठ में ही हों, नगण्य हैं। इन संहिताओं की रचना से पूर्व तो संहिता

---

१. विशेष देखिए, Macdonell, Vedic Reader (Introduction)

पाठ के अविकृत रहने में किसी प्रकार की आपत्ति नहीं करना चाहिये, क्योंकि उस समय तक ऋग्वेद संहिता के संरक्षण एवं संक्रमण के अतिरिक्त ऋषि परम्परा का दायित्व ही क्या था ? इस प्रकार संहिता रूप में आने के समय से लेकर यजुर्वेद आदि संहिताओं के प्रणयन काल तक ऋग्वेद के पाठ की प्रामाणिकता स्थापित हो जाती है।

२. **ब्राह्मण ग्रन्थों का प्रणयन**—ब्राह्मण ग्रन्थ संहिताओं के व्याख्यात्मक ग्रन्थ हैं। ऋग्वेद संहिता के ब्राह्मणों की व्याख्या से यह निश्चित हो जाता है कि ब्राह्मणों की रचना के समय ऋग्वेद संहिता का पाठ पूर्ण रूप से नियमित हो गया था। यही कारण था कि शतपथ ब्राह्मण में ऋग्वेद संहिता की ऋचाओं के विकार के सम्बन्ध में की जाने वाली कल्पना को निर्मूल और असम्भव कहा गया। इसके अतिरिक्त ब्राह्मणों में कहीं-कहीं ऋग्वेद संहिता के अनुवाकों, सूक्तों आदि की संख्या का उल्लेख किया गया है। यह संख्या वर्तमान संहिता से पूर्ण साम्य रखती है। इस प्रकार ब्राह्मणों के रचना काल तक भी ऋग्वेद संहिता की प्रामाणिकता मे संदेह का प्रश्न नहीं उपस्थित होता।

३. **पद पाठ की योजना**—प्रामाणिक ब्राह्मणों की रचना के पश्चात् ऋग्वेद संहिता के सूक्तों के मूल उच्चारण स्वरूप को निश्चित किया गया और शीघ्र ही शाकल्य परम्परा ने पदपाठ की योजना की। ब्राह्मणों के परिशिष्ट आरण्यक निरुक्त और ऋक्प्रातिशाख्य इस पद-पाठ की पूर्व-विद्यमानता को स्वीकार करते हैं। अतः यह सिद्ध है कि ब्राह्मणों के तुरन्त बाद पदपाठ के आविष्कार ने संहिता पाठ को सन्धि रहित रूप में उपस्थित किया, जिससे संहिता के संरक्षण में पर्याप्त सहयोग मिला।

४. **सूत्र साहित्य की रचना**—सूत्रों के अन्तर्गत कहीं-कहीं ऋग्वेद संहिता से सम्बन्धित तथ्यों का उल्लेख किया गया है जो वर्त्तमान संहिता के अनुसार हैं। शांखायन सूत्रों में, सूक्त में ऋचा के स्थान एवं अनुवाक गत ऋक् संख्या आदि के सम्बन्ध में जो उल्लेख मिलता है, वह वर्त्तमान ऋग्वेद संहिता से पूर्णतया मेल खाता है। इस प्रकार वर्तमान संहिता 'कल्पसूत्रों' के रचना-काल तक ठीक इसी रूप में स्थित थी, यह तथ्य प्रमाणित हो जाता है।

५. **प्रातिशाख्यों की रचना**—सूत्र काल में शिक्षा (वेदांग) के अन्तर्गत प्रातिशाख्यों की रचना की गई थी। इन प्रातिशाख्यों में संहिता के स्वर सन्धि एवं पदपाठ आदि से सम्बन्धित नियमों को विशद रूप से समझाया गया है। ऋक् प्रातिशाख्य की रचना जिस संहिता के अनुसार की गई है, वह आज प्राप्त ऋग्वेद संहिता से जातचित् भिन्न नहीं थी, क्योंकि उसके समस्त नियम इस संहिता पर समान रूप से चरितार्थ होते हैं। अतः प्रातिशाख्यों की रचना तक ऋग्वेद संहिता की प्रामाणिकता सिद्ध हो जाती है।

६. **निरुक्त की रचना**—अधुना यास्कविरचित निरुक्त ही उपलब्ध है। निरुक्त के अन्तर्गत वैदिक शब्दों की व्याख्या की गई है। यास्कीय निरुक्त के नैघण्टुक काण्ड में ऋग्वेद के शब्दों का व्याख्यान किया गया है। व्याख्या के साथ-साथ शब्द से सम्बन्धित सूक्त एवं अनुवाक आदि का उल्लेख भी किया गया है। इन तथ्यों से भी वर्तमान ऋग्वेद संहिता की प्रामाणिकता सिद्ध होती है।

अनुक्रमणियों की रचना—वेदाङ्गों की रचना के पश्चात् भी पवित्रतम वैदिक ज्ञान के संरक्षण के लिये भारतीयों ने अनेक प्रयत्न किये। अनुक्रमणी साहित्य की रचना भी एक ऐसा ही प्रयत्न था। इस साहित्य के अन्तर्गत प्रत्येक संहिता की स्वतन्त्र अनुक्रमणियों की भी रचना हुई और उस सर्वानुक्रमणी की भी रचना हुई, जिसमें सभी संहिताओं से सम्बन्धित तथ्यों का उल्लेख मिलता है। इन अनुक्रमणियों के अन्तर्गत ऋग्वेद संहिता से सम्बन्धित ऋक् संख्या, छन्द और देवता का उल्लेख है। यह उल्लेख इस समय उपलब्ध ऋग्वेद संहिता के विषय में अक्षरशः सत्य है। अतः निश्चित रूप से इस साहित्य की रचना के समय ऋग्वेद संहिता इसी रूप में विद्यमान थी, जिस रूप में वह अब उपलब्ध है।

८—पाठ-भेदों का आविष्कार

संहिताओं के संरक्षण का दूसरा अभूत पूर्व प्रयास पाठ भेदों का आविष्कार था। इस प्रयास के अन्तर्गत संहिताओं के मन्त्रों का भिन्न-भिन्न

प्रकार से पाठ किया गया। एतदनुसार ऋग्वेद संहिता की ऋचाओं का भी विविध प्रकार से पाठ किया गया। ये पाठभेद पद-पाठ के आधार पर विकसित हुए थे। इन्हें प्राचीन ऋषियों ने विकृति रूप माना था। ये विकृतियां ऋषियों द्वारा आठ प्रकार की मानी गई थीं।

जटा माला शिखा रेखाध्वजो दण्डो रथोघन:।
अष्टौ विकृतय: प्रोक्ता: क्रमपूर्वा: महर्षिभि:॥

इस प्रकार आठ प्रकार से विकृति पूर्वक पाठ करने मे ऋग्वेद का पाठ जटिल हो गया तथा उसमें ऋषियों को अधिक परिश्रम करना पड़ा। परन्तु इस प्रकार वे ऋक्संहिता के संरक्षण में अत्यधिक सफल हुए, क्योंकि उन्होंने संहिता के रूप मे अन्तर आने के लिए तनिक भी अवसर नहीं छोड़ा था।

ऊपर किये गए विवेचन के अनुसार पूर्व संहिताकाल और उत्तर संहिता काल में ऋग्वेद संहिता की प्रमाणिकता उपपन्न हो जाती है। मैक्डोनल महोदय ने भी इसी तथ्य का प्रातिपादन किया है—

"Excepting single mistakes of tradition in the first and those due to grammatical theories in the second period, the old text of the Rigveda, thus, shows to have been preserved from a very remote antiquity with marvellous accuracy even in the smallest details."

(Macdonall, History of Sanskrit Literature.)

ऋग्वेद की प्रकृति

Nature of Righeda

ऋग्वेद संहिता में वर्त्तमान काव्य की प्रकृति के सम्बन्ध में दो दृष्टिकोण स्पष्ट हैं। एक दृष्टि कोण के अनुसार ऋग्वेदीय काव्य कवि हृदय से युक्त ऋषियों की स्वत: अभिव्यक्त कवितायें हैं और दूसरे दृष्टि कोण के अनुसार पुरोहित वर्ग के द्वारा याज्ञिक उद्देश्य से रचित मन्त्र मात्र हैं। इस प्रकार ऋग्वेद की प्रकृति के सम्बन्ध में विद्वानों के भिन्न-भिन्न दृष्टिकोण मिलते हैं।

इस सम्वन्ध में यहां कतिपय प्रमुख विद्वानों के मतों का उल्लेख एवं विवेचन करना आवश्यक है।

कीजी का मत—ऋग्वेद के सूत्रों में प्रतिपादित विषय-वस्तु की प्रकृति के सम्बन्ध में कीजी महोदय ने Life in Ancient India नामक अपनी पुस्तक में लिखा है कि ऋग्वेद संहिता धार्मिक गीतों का संग्रह है। इस प्रकार शुद्ध रूप में वह धार्मिक कविता है। कीजी महोदय के मतानुसार ऋग्वेद संहिता में धार्मिक काव्य के लक्षण वर्तमान हैं। ऋक्संहिता के सम्बन्ध में कीजी साहब लिखते हैं—

"The great majority of the hymns are invocations & adorations of the gods respectively addressed, their key note is a simple outpouring of the heart, a prayer to the eternals, an invitation to them to accept favourably the gift reverently consecrated."

कीजी महोदय का विचार है कि ऋग्वेद के सूत्रों की कविता को उस प्रेरणा का परिणाम नहीं कहा जा सकता जो उत्तर कालिक लौकिक संस्कृत के कवियों के काव्य का मूल थी। ऋग्वेद के कवि की इच्छा उन भावों को अभिव्यक्त करने की है जो उसकी आत्मा में किसी देवता ने उद्बुद्ध किए हैं। जैसे कि एक कुशल कारीगर रथ का निर्माण करता है, उसी प्रकार अपने ज्ञान और शक्ति के अनुसार ऋग्वैदिक कवि भी विचार पूर्वक सुन्दर उपयुक्त वस्त्रों की तरह अपने गीत की रचना करता है। परन्तु इसके अतिरिक्त कीजी महोदय ऋग्वेद संहिता में कुछ ऐसी कविता भी स्वीकार करते हैं, जिसे धार्मिक नहीं कहा जा सकता और जो पूर्ण रूप से धर्म निरपेक्ष है। इस प्रकार की कविता ऋग्वेद के दशम मण्डल में उपलब्ध है।

ओल्डन वर्ग का मत—ऋग्वेद की प्रकृति के सम्बन्ध में ओल्डन वर्ग (Oldennrg) का मत है कि ऋग्वेद के सूक्त याज्ञिक गीतों और धार्मिक प्रार्थनाओं के रूप में है। अग्नि और सोम से सम्बन्धित यज्ञों में इन सूक्तों का

गायन होता था। स्तूयमान देवताओं को अधिकाधिक प्रभावित करके उन्हें यज्ञ में बुला लेना इन सूक्तों का एक मात्र उद्देश्य था।

ओल्डन वर्ग का विचार है कि ऋग्वेद के सूत्रों की रचना पुरोहित वर्ग ने की है। पुरोहित लोग इन कविताओं के द्वारा यज्ञ में देवताओं को सोमादि की आहुति देते थे और इस प्रकार यजमान को प्रसन्न करके उससे दक्षिणा लेते थे।

मैक्डोनल का मत—ऋग्वेद की प्रकृति के सम्बन्ध में मैक्डोनल का कथन है कि ऋग्वेद संहिता के सूक्त ऐसे ही ऋषियों की कविताएँ हैं, जिन में कवि हृदय विद्यमान था, परन्तु उनका उद्देश्य याज्ञिक ही था। देवताओं की स्तुति करते समय काव्यात्मकता इस लिए अधिक आ गई है कि स्तूयमान देवता अधिकतर प्रकृति के प्रेरक दृश्यों ही के कर्तृरूप (agent) हैं। परन्तु अग्नि और सोम की स्तुति के अवसर पर उनका कवित्व नहीं चमक पाता, क्योंकि उनमें प्राकृतिक दृश्य जैसी प्रेरकता नहीं होती। परन्तु इस स्थिति में भी कविता की नैसर्गिता वर्तमान है। मैक्डोनल महोदय लिखते हैं—

"At the same time, it is on the whole, much more nat ır ıl than might under these conditions be expected." ।

डा० विन्टर निट्ज का मत—डा० विन्टर निट्ज का मत उपर्युक्त सभी मतों से प्रायः विलक्षण है। उन्होंने ओल्डन वर्ग के मत की आलोचना करते हुए कहा है कि ओल्डन वर्ग यह भूल जाते हैं कि १०२८ सूक्तों में इस प्रकार के सूक्तों की संख्या केवल चालीस है, जिन्हें दानस्तुति के रूप में माना जा सकता है, जो कवि की स्वच्छन्द अभिव्यक्ति न होकर गढ़ी हुई प्रशंसावलियाँ प्रतीत होती हैं और जिनका मुख्य ध्येय दक्षिणा या दान प्राप्त करना है। जहाँ तक शेष सूक्तों का सम्बन्ध है, ओल्डनवर्ग का मत पूर्णतया दूषित है। जहाँ तक विन्टर निट्ज के अपने मत का प्रश्न है, उनका विचार है कि निश्चित रूप से इन सूक्तों के रचयिताओं में प्रशंसा वलियों के गढ़ने वाले तो थे ही, परन्तु साथ ही उनमें से कवियों का होना भी निश्चित ही है।

हमारे विचार से यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि ऋग्वेद के अधिकांश सूक्तों का आविष्कार यज्ञ से स्वतन्त्र हुआ है और उनमें कविता के वास्तविक रूप के दर्शन भी होते हैं। यद्यपि इन्हीं सूक्तों में से बहुत से सूक्तों का विनियोग यज्ञ में किया जाने लगा, परन्तु इससे यह बात नहीं सिद्ध होती कि उनकी रचना मूलत: इसी उद्देश्य के लिये हुई होगी। विन्टर निट्ज यह यह भी मानते हैं कि ऋग्वेद के कतिपय अंश यज्ञ में गाये जाने वाले मन्त्रों के अतिरिक्त और कुछ नहीं कहे जा सकते। उनका निर्माण याज्ञिक उद्देश्य के ही लिए हुआ था और बाद में उन्हें कारीगर के कार्यानुसार जगह-जगह चिपका दिया। इस प्रकार विन्टरनिट्ज महोदय समग्र ऋग्वैदिक कविता को एक ही प्रकृति की नहीं मानते, प्रत्युत भिन्न-भिन्न प्रकृति की मानते हैं। इस सम्बन्ध में उनका मत कीजी के मत के ही समान है। कीजी महोदय का मत पीछे दिया जा चुका है। ऋग्वेद के सूक्तों की भिन्न प्रकृति का दर्शन नीचे ऋग्वेद संहिता की विषय वस्तु के विवेचन से और भी स्पष्ट हो जाएगा।

ऋग्वेद संहिता की विषयवस्तु

यास्क ने ऋग्वेद संहिता के विषय वस्तु को तीन भागों के अन्तर्गत विभाजित किया है। ये तीन भाग हैं—

(१) प्रत्यक्षकृत, (२) परोक्षकृत और (३) आध्यात्मिक।

इसी विभाजन के आधार पर घाटे महोदय ने ऋग्वेद के सूक्तों का तीन प्रकार से विभाजन किया है। घाटे ने ऋग्वैदिक सूत्रों को धर्म निरपेक्ष, धार्मिक एवं दार्शनिक सूक्तों के रूप में देखा है। परन्तु घाटे महोदय के इस वर्गीकरण के द्वारा ऋग्वेद के वर्ण्य विषय का पूर्णतया विश्लेषण सम्भव नहीं होता। इस सम्बन्ध में डा० विन्टरनिट्स का वर्गीकरण अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है। मैग्डोनल द्वारा किया गया वर्गीकरण भी बहुत कुछ विन्टरनिट्स के वर्गीकरण के समान ही है। विन्टरनिट्स द्वारा किया गया ऋग्वेद के विषय वस्तु का विश्लेषण इस प्रकार है—

(१) **काव्यात्मक गीत** (Poetical songs)—जहां, धार्मिक दृष्टि से ऋग्वेद की प्राचीनता का महत्त्व है, वहां ऋग्वेद के गीतों को भी काव्य कला की दृष्टि से विश्व-साहित्य में प्रमुख स्थान प्राप्त है। ऋग्वेद के काव्यात्मक गीतों में हिब्रू के धार्मिक काव्य 'Book of Psalms' के समान अतिशयोक्तिमयकल्पना एवं उत्साह का प्रदर्शन नहीं किया गया है। अपने स्तोत्र में वैदिक स्तोता जिस देवता की स्तुति करता है उस देवता के प्रति वह अत्यधिक भय एवं अतिशय श्रद्धा की भावना नहीं रखता। अतएव ऋग्वैदिक गीतों में वह औपचारिकता नहीं है जो हिब्रू के धार्मिक काव्य Book of Psalms में है। ऋग्वैदिक कवियों द्वारा जिन देवों की स्तुति की गई है, वे उन कवियों द्वारा परिचित हैं। इसलिए जब वे किसी देवता की स्तुति करते हैं तो वे उस देवता से गायों और वीर पुत्रों की आशा करते हैं और अपनी इस प्रत्याशा को ये स्तोता स्पष्ट कहने में तनिक भी भय नहीं खाते, वरन् देवताओं को उत्तेजित ही करते हैं। ऋग्वेद के आठवें मण्डल के १९वें सूक्त के अन्तर्गत अग्नि की स्तुति करते हुए एक ऋषि कवि कहता है—

यदग्ने मर्त्यस्त्वं स्यामहं मित्रमहो अमर्त्यः।
सहसा सुनवाहृतं।।

इसी प्रकार अष्टम मण्डल के ही १४वें सूक्त में इन्द्र के प्रति कवि कहता है--

यदिन्द्राहं यथा त्वमीशीय वस्व एक इत, स्तोता मे गोषरवा स्यात्।
शिक्षेयमस्मै हित्सेयं शचीपते ! मनीषिणे ! यदहं गोपतिः स्याम् ।।

इस प्रकार के सूक्तों के सम्बन्ध में एक बात और विचारणीय है और वह यह कि स्तूयमान देवता की प्रकृति के अनुसार इन सूक्तों की प्रकृति भी परस्पर भिन्न है। उदाहरण के लिए वरुण एक ऐसा देवता है, जो अपनी साधुता के बल पर मर्त्यों से उच्च है, जो मनुष्य के आचरण पर कड़ी देखभाल करता है और अपराध करने वाले को कड़ा दण्ड देता है। इसीलिए कवि उसकी स्तुति भयभीत मुद्रा में अनुनय भाव के साथ किया करते हैं।

दूसरी ओर वीरता के प्रतीक, राष्ट्रिय नायक एवं वृत्त के हन्ता इन्द्र की स्तुति में कवि सहानुभूति की व्यञ्जना करते हैं—

वृषायमाणोऽवृणीत सोमं त्रिकद्रुकेष्पिबत्सुतस्य ।

आ सायकं मघवा दत्त वज्र महन्नेनं प्रथमजामहीनाम् ।।

अग्नि की स्तुति कवि मर्त्यों के मित्र के रूप में करता है। कवि अग्नि से बड़ी उत्सुकतापूर्वक सरल ढग से अपने हृदय की बात कह देता है।

इन काव्यात्मक गीतों के अन्तर्गत गीति काव्य की अमूल्य रत्ननिधि भी उपलब्ध है, जो सूर्य पर्जन्य, मरूत और उषस् से सम्बन्धित सूक्तों में उपलब्ध होती है। उषस् सूक्तों में वैदिक कवि सुन्दर रूपकों के लिए होड़ सी करते दिखाई पड़ते हैं—

संस्मापमाना युवतिः पुरस्तात् ।
आविर्वक्षांसि कृणुषे विभाती ।।

पर्जन्य सूक्तों में भी वर्षा का काव्य मय एवं मनोहर वर्णन मिलता है—

दूरात् सिंहस्य स्तनथा उदीरते ।
यत् पर्जन्यः कृणुते वर्ष्यं नभः ।।
प्रवाताः वान्ति पतयन्ति विद्युत् ।
उदोषधीर्जिहते पिन्वते स्वः ।।

(२) यज्ञीय स्तोत्र—ऋग्वेद के सूत्रों की एक दूसरी श्रेणी है। इस श्रेणी के सूत्रों की रचना यज्ञ सम्बन्धी अभिप्राय को पूरा करने के लिए की गई थी। इस प्रकार के सूक्तो की कुछ प्रमुख विशेषताएं इस प्रकार हैं—

(१) इन सूक्तों में एक रसता का भाव मिलता है। जिसके फलस्वरूप ऋषियों द्वारा विभिन्न देवताओं की स्तुति करते समय समान विशेषताओं का प्रयोग किया गया है।

(२) सूक्त के अन्त में प्रायः पुत्र, गौ एवं धन आदि की प्रार्थना अवश्य की जाती है।

(३) ऐसे सूक्तों में प्राय: 'विश्वेदेवा:' की स्तुति ज्ञान के साथ की गई है। यज्ञ में सोम का अपना-अपना भाग सभी देवताओं को देकर, ऋषि उन्हें इस प्रकार प्रसन्न करते हैं—

शं न इन्द्राग्नी भवतामवोभि: शं न इन्द्रावरूणारात हव्या।
शमिन्द्रा सोमा सुविताय शं यो: शं न इन्द्रापूषणावाजसातौ ॥[1]

आप्री सूक्त भी यज्ञीय स्तोत्रों में गिने जायेंगे क्योंकि आप्री का अर्थ है—"प्रसन्न करने वाले"। इस प्रकार के दश सूक्त ऋग्वेद के अन्तर्गत मिलते हैं जिनका विनियोग पशुमेध यज्ञ में नियमित रूप से हुआ करता है। इनमें प्रमुख अग्नि की स्तुति है जिससे वह सब देवताओं को तुष्ट करके यज्ञ में उपस्थित करे।

सोम को समर्पित नवम मण्डल के समस्त सूक्त सोमयाग के उपयोग के लिए हैं इन सब में सोम सेवन की प्रक्रिया का पुन: पुन: उल्लेख है। सोम पान के लिए इन्द्र को बुलाया जाता है तथा सोम और इन्द्र की साथ-साथ स्तुति की जाती है। इस स्तुति में गायक, धन अथवा वर्षा, जिसका प्रतीक चलनी से टपकता हुआ सोमरस है, की अभिलाषा करता है।

अन्त्येष्टि सूत्रों की गणना भी यज्ञीय स्तोत्रों के अन्तर्गत की जायेगी। ये सूक्त इस बात के समीचीन प्रमाण हैं कि शुद्ध याज्ञिक उद्देश्य के लिये बनाये गये सूक्तों में भी काव्यात्मकता आ सकती है। मृतक शरीर को (अथवा Oldeen berg) (ओल्डनवर्ग) के अनुसार मृतक की अस्थियों को) पृथ्वी में गाढ़ते समय ये सूक्त पढ़े जाते थे।

उपसर्प मातरं भूमिमेतामुरु व्यचसं पृथिवीं सुशेवान्।
अर्णम्रदा पुवतिर्दक्षिणावत एषा त्वा पातु निर्ऋते रुपस्थात्[2] ॥

दशम मण्डल का १६ वां सूक्त दाह क्रिया से सम्बन्धित है। इस सूक्त

१. ऋग्वेद ७।३५।१

२. ऋग्वेद १०।१८।१०

के एक मन्त्र में चिता में रखने के बाद 'शव' के यम लोक पहुँचने की बात कही गई है—

मैनमग्ने विदहो मा भिशोचो मास्य त्व चं चिक्षिपो मा शरीरम् ।
यदाश्रृतं कृणवो जातवेदोऽथमेनं प्रहिणुतात् पितृभ्यः ।।

दार्शनिक सूक्त—यद्यपि दशम मण्डल के ऊपर उद्धृत सूक्त में मृत्यु के अनन्तर जीवन और प्राण की दशा से सम्बन्धित दार्शनिक सिद्धान्त अग्नि और पितरों की पौराणिक धारणाओं के मिश्रण के साथ मिलते हैं तथापि ऋग्वेद में इस प्रकार के द्वादश सूक्त मिलते हैं जिनमें उपनिषदों में पल्लवित उच्च दार्शनिक विचारों के बीज उपलब्ध होते हैं। इस प्रकार के सूक्तों में दशम मण्डल का नासदीय सूक्त, पुरुष सूक्त और हिरण्यगर्भ सूक्त विशेष रूप से महत्त्वपूर्ण हैं।

संहिता काल के अन्तर्गत भी कुछ इस प्रकार के व्यक्ति (व्रात्य) थे जिन्हें देवताओं के अस्तित्व के सम्बन्ध में सन्देह था। ये व्यक्ति देवताओं के सम्बन्ध में प्रश्न करते हुये कहा करते थे कि हम किस देवता को हवि प्रदान करें (कस्मैदेवाय हविषा विधेम) सृष्टि के प्रश्न के सम्बन्ध में नासदीय सूक्त में कहा गया है—

नासदासिन्नो सदासीत्तदानीं नासीद्रजो न व्योमा परोयत् ।
किमावरीवः कुहकस्य शर्मन्नम्भ किमासीद् गहनं गभीरम् ।।
न मृत्युरासीदमृतं न तर्हि न राज्या अह्न आसीत् प्रकेतः ।
आनीदवातं स्वधया तदेकं तस्माद्धान्यन्न परः किं च नास ।।
तम आसीत्तमसा गूलहमग्रेऽप्रकेतं सलिलं सर्वमा इदम् ।
तुच्छयेनाभ्वपि हितं यदासीत् तपस्तन् महिम्ना जायतैकम्[1] ।।

सृष्टि के सम्बन्ध में ऋषि फिर कहते हैं कि सृष्टि कहाँ से और किसने उत्पन्न की है ? यह कौन बनाये। सृष्टि का अध्यक्ष जो परम व्योम में रहता है, सम्भवतः सृष्टि के सम्बन्ध में जानता है। अथवा यह भी सम्भव है कि वह भी न जानता हो—

---

१. ऋग्वेद १०।१२९।१, २, ३

इयं सृष्टिर्यत आबभूव यदि वादधे यदि वा न।
यो अस्याध्यक्षः परमे व्योमन्त्सो अंग वेद यदि वा न वेद[1] ॥

पुरुष सूक्त के अन्तर्गत तो सर्वेश्वरवाद (Pantheism) का सुन्दर प्रतिपादन मिलता है। पुरुष सूक्त के अन्तर्गत सम्पूर्ण भूत एवं भवितव्य को पुरुष ही का रूप माना गया है—

'पुरुष एदं सर्वं यद्भूतं यच्च भाव्यम्' पुरुषसूक्त के ही कई सूक्तों में प्रजापति अथवा विश्वकर्मा को सभी वस्तुओं का स्रष्टा बतलाया गया है। कुछ सूक्तों में कहा गया है कि जो कुछ भी हम प्रकृति में देखते है और जिन्हें हम विविध देवता कहते हैं, ये सब मूलतः एक तत्त्व से ही उत्पन्न हुए है। इस एक तत्त्व का वहाँ कोई विशेष नाम तो नहीं दिया गया है, परन्तु निश्चित रूप से वहाँ विश्ववर्त्ती उस एक तत्त्व का प्रतिपादन मिलता है, जिसका पूर्ण विकास उपनिषदों में हुआ। इस दृष्टि से ऋग्वेद का निम्नोद्धृत मन्त्र महत्वपूर्ण है—

इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान्।
एकं सद्विप्रा बहुधावदन्त्यग्नि मयं[2] मातरिश्वाहुः॥

४—आख्यान सूक्त (Ballad Poetry)

ऋग्वेद के एकाधिक सूक्त काव्यत्व एवं नाटकत्व के अधिक समीप हैं। ये सूक्त संवाद के रूप में कुछ कथाओं के अंश हैं। इसलिये डा० विन्टर निट्ज इन्हें 'संवाद सूक्त' कहकर पुकारते हैं। परन्तु ओल्डनवर्ग ने इन्हें 'आख्यान सूक्त' ही कहा है। इस प्रकार के सूक्त प्रमुख रूप से ऋग्वेद के दशम मण्डल में है"। निश्चय ही इस प्रकार के सूक्तों के सम्बन्ध में मतभेद है। जैसा कि अभी संकेत किया गया है, ओल्डनवर्ग (Oldenberg) उन्हें प्राचीन आख्यानों के अंश रूप में मानने के पक्षपाती हैं। ये आख्यान मूलतया गद्यपद्योभयात्मक थे परन्तु पद्य भाग के अधिक रमणीय होने के कारण उसे ऋग्वेद के अन्तर्गत संकलित

१. ऋग्वेद १।१२६।७
२. ऋग्वेद १।१६४।४६

कर लिया गया। त्यक्त गद्य भाग को कुशील व मौखिक रूप से ही कहते रहे होंगे।

विद्वान् सिल्वां लेवी भी ओल्डनवर्ग के मत से सहमत हैं। सिल्वां लेवी गद्य भाग के ऋग्वेद के अन्तर्गत न संगृहीत करने के सम्बन्ध में यह तर्क देते हैं कि 'ऋग्वेद' (ऋचां वेद:) में गद्य का संग्रह नहीं किया जा सकता था।

हर्टेल, श्रोडर तथा मैक्समूलर का मत— हर्टेल, श्रोडर तथा मैक्समूलर यह मानते हैं कि ये (आख्यान सूक्त) धार्मिक सम्प्रदाय में प्रचलित नाटकों के संवादों के खण्डित अंश हैं। यदि इनमें अभिनय का पुट दे दिया जाये तो वे अब भी पूर्णतया नाटक के रूप को प्राप्त कर सकते हैं।

विन्टरनिट्स का विचार है कि ये सूक्त प्राचीन वीर स्तुतियों के रूप हैं, जिनका सम्बन्ध महाकाव्य और नाटक दोनों के साथ प्रतीत होता है। इस प्रकार के सूक्तों में पुरुरवस् और उर्वशी संवाद सूक्त तथा यमयमी संवाद सूक्त अत्यन्त प्रसिद्ध हैं।

(१) **पुरुरवा और उर्वशीसंवादसूक्त**—इस सूक्त में १८ ऋचाओं में पुरुरवा और उर्वशी के कथन-उपकथन हैं। जब पुरुरवा उर्वशी से उसके न मिलने पर, अपने को पर्वत से गिरा देता है तो उर्वशी कहती है—

> पुरुरवो मा मा मृथा मा प्रसुप्तो मा त्वा वृकासो अशिवास उक्षन्।
> न वै स्त्रैणानि सख्यानि सन्ति सालावृकाणां हृदयान्येता[१] ॥

अर्थात् क्यों मुफ्त मरते हो। इस प्रकार मरने से क्या लाभ। स्त्रियों के साथ शाश्वत मित्रता नहीं हो सकती। स्त्रियों का हृदय भेड़िये के हृदय के समान होता है।

(२) **यमयमी संवाद सूक्त**—यमयमी का संवाद अत्यन्त विलक्षण है। वेबर साहब यम का अर्थ 'जोड़ा' (twain) ग्रहण करते हैं और यमी को यम ही का स्त्रीवाचक शब्द मानते हैं। इसीलिये इस सूक्त के सम्बन्ध में विन्टरनिट्ज का विचार है—

---

१. ऋग्वेद १०।९५।१५

"An old myth of the origin of human race from a first pair of turins under lies the conversation."

यमयमी संवाद[1] के अन्तर्गत यमी अपने भाई यम से समागम करने का आग्रह करती है। यम पुन: पुन इसके लिये मना करता है और उसे किसी अन्य के साथ समागम करने का परामर्श देता है। यही स्थल संवाद की समाप्ति है।

पुरुरवा और उर्वशी संवाद सूक्त एवं यमयमी संवाद सूक्त के अतिरिक्त इन्द्र-वरुण संवाद वरुणाग्नि संवाद, अग्नि तथा अन्य देवताओं के संवाद तथा इन्द्र-इन्द्राणी संवाद से सम्बन्धित सूक्त भी आख्यान सूक्तों के अन्तर्गत ही आते हैं। इसी प्रकार सूर्य सूक्त की गणना भी आख्यान सूक्त के ही अन्तर्गत होती है।

ऐन्द्र जालिक मंत्र—अथर्ववेद के समान ऋग्वेद में कुछ ऐसे सूक्त भी हैं जिनमें दूषित दृष्टि तथा अन्य प्रकार की हानिकारक यानविक क्रिया, जिसके द्वारा बधू अपने भावी पति को हानि पहुंचा सकती है, से बचने के लिये उपचार मन्त्र दिये हैं। ऋग्वेद में ऐसे अपसारणमन्त्र भी मिलते हैं, जिनके द्वारा नववधू की ताक में रहने वाले दुरात्माओं को भगाया जा सकता है और प्रेत बाधाओं को दूर किया जा सकता है। दशम-मण्डल के आशीर्वादात्मक मन्त्र भी ऐन्द्र जालिक प्रकृति के है। इन मन्त्रों के द्वारा दुःस्वप्नों के प्रतिकार तथा पिशाचों के अपसारण द्वारा शिशु की रक्षा होती है। दरिद्रता नाशक एवं यक्ष्मानाशक ये दो सूक्त भी ऐन्द्रिजालिक से ही प्रतीत होते हैं। विन्टरनिट्स मंडूक[2] सूक्त को भी वर्षा कराने के लिये एक ऐन्द्रजालिक टोना मात्र मानते हैं।

६—धर्मनिरपेक्ष सूक्त (Secular Poetry)

अभी तक जिन सूक्तों की ओर संकेत किया गया है, वे येन केन प्रकारेण

१. ऋग्वेद १०।१०

२. ७।१०३

धर्म से सम्बन्धित हैं। परन्तु इनके अतिरिक्त ऋग्वेद में कतिपय ऐसे सूक्त भी हैं, जिनका धर्म से किसी प्रकार का सम्बन्ध नही प्रतीत होता। धर्म से स्वतन्त्र ये सूक्त पूर्णतया भौतिक है। इस प्रकार के सूक्तों को धर्म निरपेक्ष सूक्त कहा जा सकता है। ये सूक्त धर्म आपेक्ष सूक्तों के साथ मिलेजुले रूप में उपलब्ध होते है। पातकी मन्त्रों में भी कुछ मन्त्र धर्म निरपेक्ष हैं। सोमसम्बन्धी स्तोत्रों में भी इसी प्रकार का एक श्रम-गीत (Labour song) है, जो कुछ व्यंगात्मक है[1]। इस गीत में मनुष्य के विभिन्न व्यवसायों का अत्यन्त मनोरञ्जक वर्णन है। अक्ष सूक्त की गणना भी इसी प्रकार के सूक्तों में है। इस सूक्त के अन्तर्गत एक जुआरी द्यूत-क्रीड़ा से हुई अपनी दयनीय दशा का हृदयावर्जक चित्रण करता है। उसकी स्त्री उससे घृणा करने लगती है और दूसरे व्यक्ति उसकी स्त्री के साथ नैसर्गिक सम्बन्ध स्थापित करते है। द्यूत-ऋण न चुकाने पर राज सैनिक उसके घर आते हैं और माता-पिता और भाई धन न देने के अभिप्राय से उन्हें जवाब दे देते है कि वह हमारा किसी प्रकार का सम्बन्धी नहीं है, हम उसे जानते तक नहीं, इसी को बांधकर ले जाओ। जुआरी जब दूसरों के सुव्यव- स्थित घरों को देखता है तो बडा खिन्न होता है। वह बहुत सोचता है कि जुआ न खेलूं, परन्तु जब पीठक पर अक्ष फ़ेके जाने का शब्द उसे सुनाई देता है तो वह अपने पर नियन्त्रण नहीं कर सकता है और जारिणी की भांति द्यूत स्थल पर जा धमकता है—

'न्युप्ताश्च बभ्रवो वाचम क्रत एकीदेषां निष्कृतं जारिणीव'' (१०।३४।५)

इसके पश्चात् जुआरी अपनी भाग्य-भर्त्सना करता है और कभी जुआ न खेलने के लिए तथा अपने खेत और परिवार की देखभाल करने के लिए दृढ़ निश्चय करता है।[2]

७—दान स्तुतियां

ऋग्वेद के अन्तर्गत कितने सूक्तों में दान स्तुतियां मिलती हैं, इस सम्बन्ध

---

१. ऋग्वेद ९।११२

२. देखिए, ऋग्वेद १०।३४।४, १०।३४।५, १०।३४।१२,१३,

में भिन्न-भिन्न विचार उपलब्ध होते हैं। कात्यायन के द्वारा 'ऋक् सर्वाउक्रमणी के अन्तर्गत केवल २२ सूक्तों में दान स्तुतियों का उल्लेख किया गया है। परन्तु कतिपय विद्वान् ६८ सूक्तों में दान स्तुतियों का उल्लेख स्वीकार करते हैं।[1] विन्टरनिट्स महोदय के विचार से केवल ४० सूक्तों में दान स्तुतियों का स्वरूप उपलब्ध होता है।[2] इन सूक्तों की प्रकृति धर्म सापेक्ष एवं धर्म निरपेक्ष सूक्तों के मध्य की है। इन सूक्तों के अन्तर्गत ब्राह्मण कवि दाता राजा या आश्रयदाता के पराक्रम अथवा दानशीलता की प्रशंमा करते हैं। अधिकांश दान स्तुतियां यज्ञीय मन्त्रों के ही रूप में हैं, जिनमे पहिले इन्द्र की स्तुति की गई है और फिर आश्रवदाता की इन स्तुतियों के अन्तर्गत दान देने वाले के नाम कर्मों का उल्लेख भी मिलता है। वस्तुत. दशम मण्डल मे एक ही सूक्त (सू० १०।११७) पूर्णरूप से दान स्तुति कहा जा सकता है। अन्यथा शेष दान स्तुतियां प्रायः याज्ञिक सूक्तों के अन्त मे ४.५ मन्त्रों के ही रूप में मिलती है। यह एक सूक्त दान स्तुति होने के साथ-साथ नैतिक भावना से भी ओत प्रोत है जो ऋग्वेद के लिए एक विलक्षण वस्तु है। दान स्तुति के प्रतिपादक की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण इस सूक्त की नैतिक महत्ता के सम्बन्ध में निम्नलिखित मन्त्र उद्धृत किये जा सकते हैं—

मोघमन्नं विन्दते अप्रचेताः सत्यं ब्रवीमि वध इत् स तस्य।
नार्यमणं पुष्यति नो सखायं केवलाघो भवति केवलादी[3]॥

इस मन्त्र के अनुसार जो मनुष्य दान न देकर अपने अर्थ को केवल अपने ही स्वार्थ के लिए व्यय करता है, वह पाप का ही भक्षण करता है।

इसी प्रकार एक अन्य मन्त्र के अन्तर्गत कहा गया है कि वस्तुतः वह सखा नहीं जो अत्यधिक स्नेह रखने वाले मित्र अथवा परिचित व्यक्ति को

---

१. देखिए, बलदेव उपाध्याय, वैदिक साहित्य पृ० ११२
२. प्राचीन भारतीय (मूलरचयिता डॉ० विन्टरनिट्स, अनुवादक डा० मङ्गलदेव शास्त्री) प्रथम भाग, प्रथम खण्ड पृ० ९
३. ऋग्वेद १०।११७।६

दान नहीं देता। ऐसे व्यक्ति से दूर हट जाना ही कल्याणवादी है। ऐसे व्यक्ति का घर घर नहीं होता। उस व्यक्ति के लिए किसी पोषक एवं अपरिचित व्यक्ति की शरण में जाना ही समीचीन होता है।[1]

ब्रह्मोद्य सूक्त (Riddles)

ऋग्वेद के अन्तर्गत कतिपय मन्त्र इस प्रकार के हैं कि उनमें किसी साधारण बात को भी रूपकात्मक ढंग से व्यक्त किया गया है। इन मन्त्रों में बौद्धिक क्रीड़ा विशेष रूप से मिलती है। प्राचीन आर्यों में इस प्रकार के कूट पद्य अधिक प्रचलित थे। यद्यपि इस प्रकार के पद्य धार्मिक सूक्तों से पृथक् कहीं नहीं मिलते तथापि उनकी प्रकृति सर्वथा भिन्न है। ऐसे सूक्तों को 'ब्रह्मोद्य सूक्तों' की संज्ञा दी जाती है। ब्रह्मोद्य सूक्तों में कुछ प्रहेलिकाऐं भी देखने में आती हैं। इनमें कुछ प्रहेलिकायें दुर्बोध्य हैं और कुछ सुबोध्य प्रायशः इन प्रहेलिकाओं के उत्तर भी उन्हीं में मिल जाते हैं। उदाहरण के लिए ऋग्वेद के प्रथम मण्डल के १६४वें सूक्त के अन्तर्गत प्रहेलिका के साथ उसका उत्तर भी दिया गया है—

सप्त युञ्जन्ति रथमेकचक्रमेकोऽश्वोवहति सप्त नामा।
त्रिनाभि चक्रमरजरमनर्यं यत्रेमा विश्वा भुवनाधि तस्थुः॥[2]

अर्थात् सात पहिए वाले समीपस्थ रथ को सात घोड़े चलाते हैं। किरण रूप सात बहिनें इस रथ के आगे चलती हैं।

ऋग्वेद के विषय वस्तु की विविध प्रकृति को देखकर ऐसा प्रतीत होता है कि उसमें संगृहीत सूक्त एक विस्तृत साहित्य के अंश हैं जो मूलतया

१. न स सखा यो न ददाति सख्ये
सचाभुवे सचमानाय पित्वः।
अपास्मात् प्रेयान् न तदोको अस्ति
पुनन्तमन्यमरणं चिदिच्छेत्॥ ऋग्वेद १०।११७।४

२. ऋग्वेद १।१६४।२

धार्मिक और धर्म निरपेक्ष दोनों ही प्रकार के हैं। ऋग्वेद संहिता में पाये जानेवाले सूक्त या तो ऐसे है, जिनकी रचना यज्ञीय उद्देश्य के लिए हुई है या फिर ऐसे हैं जिनका विनियोग याज्ञिक मन्त्रों के रूप में सरलता से किया जा सकता है। यह भी अनुमान लगाया जा सकता है कि इन कतिपय सूक्तों की धार्मिक प्रकृति ने उन्हें ऋग्वेद संहिता में संगृहीत होने का सौभाग्य प्रदान किया। संग्रह कर्ताओं ने व्याख्यात्मक दृष्टि से मनोहर तथा धार्मिक दृष्टि से रुचिपूर्ण कविताओ को ही साहित्य में संगृहीत किया। छन्द और भाषा की दृष्टि से इतनी ही प्राचीन और आदरणीय शुद्ध अधार्मिक कविताओं को इस संग्रह में कोई स्थान नहीं दिया गया। कण्ठस्थ किये जाने के लिए बनाए गए इस संग्रह में यदि उनको भी सम्मिलित कर लिया गया होता तो उन्हें विस्मृति के गर्भ से सरलता से बचाया जा सकता था। यह बात निश्चितरूप से सत्य प्रतीत होती है कि उस समय इस प्रकार की विपुल साहित्यिक सामग्री विद्यमान् थी जिसे अधार्मिक और अपवित्र समझकर ऋग्वेद संहिता में संगृहीत नहीं किया गया। इसी प्रकार की सामग्री का अवशिष्ट साहित्य उत्तरकाल में आकर अथर्ववेद संहिता में वर्णबद्ध कर दिया गया। इस सम्बन्ध में विन्टरनिट्ज की यह युक्ति सत्य प्रतीत होती है—

"The songs, hymns and poems of Rigveda which have come down to us are only prog mentary portion of a much more extensive poetic literature both religions & secular of which probably the greater part is irretrievably lost."

ऋग्वैदिक धर्म और पौराणिकता

जैसा कि पीछे स्पष्ट किया जा चुका है काव्यात्मक दृष्टि से तो ऋग्वैदिक सूक्तों का महत्त्व है ही, परन्तु प्राचीनतम धार्मिक दृष्टि से भी ऋग्वेद का महत्त्व कुछ कम नहीं है। दूसरे शब्दों में प्राचीनतम धर्म का एकमात्र आधार ऋग्वेद है। ऋग्वेद के धार्मिक महत्त्व के सम्बन्ध में यहां यह कह देना

और उपयुक्त होगा कि ऋग्वेद की महत्ता केवल भारतवर्ष के प्राचीनतम धर्म के स्वरूप के अनुरूप के अनुसन्धान की दृष्टि से ही नहीं है, अपितु, भारतीय-योरोपीय अथवा सभी जातियों की आदिम पौराणिकता का परिचय प्राप्त करने के लिए भी ऋग्वेद के अतिरिक्त और कोई महत्त्वपूर्ण साहित्यिक स्रोत नहीं है। इसीलिए भारतीय वाङ्मय की इस अमूल्य निधि के सम्बन्ध में डा० विनटरनिट्ज ने ठीक ही कहा है: –

"To say in a word: what renders there hymns so valuable for us is that we see before us in them a my thology in the making."

पौराणिकता का विकास

ऋग्वैदिक स्तोत्रों एवं सूक्तों में हमें देवताओं का क्रमिक विकास देखने को मिलता है। वैदिक आर्य जिस वातावरण में रहते थे, जिन प्राकृतिक दृश्यों को प्रत्यक्ष करते और जिन पदार्थों को उपादेय समझते थे, उस वातावरण से, उन प्राकृतिक दृश्यों से और उन पदार्थों से ही भारतीय धर्म का आदिम विकास प्रारम्भ हुआ, देवताओं का विकास हुआ। कहना न होगा कि ऋग्वेद के मन्त्र प्रमुखरूप से इन्हीं देवताओं की स्तुति में मुक्त कण्ठ से गाए गए गीत हैं।

निःसन्देह धार्मिक विकास के इस प्रारम्भिक काल में आर्य लोग प्रकृति के निकट सम्पर्क में थे और उनके स्तुत्य देव उनकी जिज्ञासा, संवेदन शीलता और सहज सरलता के परिणाम थे। वैदिक आर्य अपने, अपने जीवन में कोई भी कार्य और गति ऐसी नहीं देखता जो किसी व्यक्ति के द्वारा सम्भव न हो। इसीलिए वैदिक भारतीय प्रकृति के कार्य और गतिरूप घटनाओं को भी व्यक्ति रूप कर्त्ताओं द्वारा विहित मानता है। इसीलिए उसे प्रकृति के कार्य कलापों पर बच्चों जैसा आश्चर्यानुभव होता है। इसी सम्बन्ध में मैक्डोनल का कहना है—

"He still looks out upon the workings of nature with childlike astonishment."

यद्यपि ऋग्वेद द्वारा प्रस्थापित पौराणिक पक्ष अपेक्षतः आदि कालीन है, परन्तु उसमें कुछ ऐसी धारणाएँ भी हैं जो और भी पूर्व काल से उत्तराधिकार से मिली हैं। कहना न होगा कि अवेस्तन एवं वैदिक देवताओं में अत्यधिक साम्य है। इन दोनों देवशास्त्रों का तुलनात्मक अध्ययन भी बड़ा रोचक है। अवेस्तन भाषा के प्राचीनतम रूप की वैदिक बोली के साथ वाक्यरचना, शब्द समूह, रीति, छन्द और काव्य-शैली की दृष्टि से इतनी अधिक समता है कि कुछ-एक ध्वनि नियमों के अनुसार छोटे-मोटे परिवर्तन करके हम सारे ही अवेस्तन मन्त्रों का शब्दशः वैदिक छन्दों में अनुवाद कर सकते हैं। और वह अनुवाद भी ऐसा होगा कि ये परिवर्तित मन्त्र केवल रूप में ही नहीं, प्रत्युत व्याख्यात्मकता की दृष्टि से भी पूर्णतया वैदिक होंगे[1] अवेस्तन एवं वैदिक देवताओं के साम्य से यह प्रमाणित होता है कि अनेक देव उस काल से सम्बन्धित हैं जब कि पारसी और भारतीय एक ही जाति में थे। इस प्रकार के देवों मे यम (वैदिक) इमा (अवेस्तन) मित्रा (वैदिक) मिथरा (अवेस्तन) उल्लेखनीय हैं। इसी प्रकार अनेक धार्मिक कृत्यों जैसे 'सोम पूजा और अग्नि पूजा की पारस्परिक समानता भी ऋग्वेद से पूर्व काल के सम्बन्ध को प्रमाणित करती हैं। इसी प्रकार देवत्व' की सामान्य धारणा और भी पूर्वकाल से सम्बन्धित है जब कि भारतीय और योरोपीय लोग एक ही थे।' 'द्यौः पिता' की विचारधारा भी इसी काल से सम्बद्ध है। द्यौ और पृथ्वी के सम्बन्ध में जो आदि विश्व के माता पिता की धारणा है वह और भी प्राचीन है।

ऋग्वेद कालीन ऋषियों ने विश्व के तीन विभागों के रूप में दर्शन किए थे। ये तीन विभाग—द्यौ०, पृथ्वी और अन्तरिक्ष रूप थे। ऋग्वेद में इनकी

---

१. विशेष देखिए।

"Macdonell, Vedic Mythology Hindi Translation page 10."

वर्णना अनेकानेक वार हुई है। सूर्य सम्बन्धी समस्त दृश्य और घटनाएं 'द्यौः' से सम्बन्धित हैं, जब कि विद्युत्, वर्षा और वायु अन्तरिक्ष से सम्बन्धित हैं। इन तीन भिन्न लोकों में विभिन्न देवता निज-निज कर्म करते हैं, परन्तु उनका निवास द्युलोक में ही समझा जाता है। अन्तरिक्ष प्रायः सिन्धु के नाम से अभिहित किया गया है, जो कि स्वर्गीय जल का वास स्थान है, जब कि वर्षा रहित बादल कभी-कभी पर्वत और कभी दस्यु प्रासाद बताए गए हैं। गर्जन करने वाले जल वर्षी मेघ वह रंभाती गाय है जिस का दूध निकाला जाता है। यह दूध पृथ्वी को मोटा बना देता है।

इस प्रकार ऋग्वैदिक देवताओं का विकास आर्यों के इन्डोयोरोपियन, इन्द्रोईरानियन और इन्डो-आर्यन सम्बन्धी तीनों पक्षों में सम्भव हुआ। परन्तु पौराणिक देवों के विकास के कई रूप हैं—

(१) मानवीकरण

ऋग्वेद के अन्तर्गत अधिकांश देवताओं की स्थिति प्रकृति के मानवीकरण के फलस्वरूप ही है। ये देवता विना किसी अपवाद के प्राकृतिक दृश्यों के ही प्रति रूप हैं। यह कथन अनुचित न होगा कि प्राचीन देव वाद के आधार स्रोत प्रकृति के मानवीकरण और उसकी उपासना पर आधारित धार्मिक विश्वासों में वर्तमान हैं। ऋग्वेद के सूक्तों का क्रमिक अध्ययन इस तथ्य का साक्षी है कि अनेकों सूक्त सूर्य देव को नहीं, अपितु स्वयं भास्वान सूर्य को, चन्द्र देव को नहीं, प्रत्युत रात्रि में शोभायमान स्वयं चन्द्र को वेदिकाग्नि को, घननिस्सृत विद्युत् को, रात्रि के ताराखचित आकाश अथवा दिन के प्रकाश मान आकाश को, बादलों और सरिताओं के प्रवहमान जलको, शब्दायमान झंझावातों को, द्युतिमति उषा को और इसी प्रकार फलवती भू को समर्पित हैं। ये साक्षात् दृश्य बाद में, सूर्य देव, चन्द्रदेव (सोम) अग्नि देव, वरुण देव, मरुद्देव, इन्द्र-देव और उषा देवी के नाम से स्तुत किए गए, यह स्वयं सूक्तों से स्पष्ट है। इस प्रकार निश्चय ही वैदिक देवों के आधार प्राकृतिक दृश्य हैं।

प्राकृतिक दृश्यों के मानवीकरण के रूप में विकसित अनेकों पौराणिक

देवों की मूल प्रकृति को आंशिक रूप से भुला दिया गया और उनका सम्मान अपेक्षत: शक्ति-मान् और उच्च प्राणियों के रूप में होने लगा। इस प्रकार के देवों में इन्द्र, मित्र, अदिति, विष्णु, पूषन्, अश्विन्, कुमार, रुद्र और पर्जन्य हैं।

(२) विशेषणों के आधार पर विकसित देव

वे विशेषण जो पहिले किसी प्राकृतिक दृश्य के, किसी एक वैशिष्ट्य के परिचायक थे, आगे चल कर स्वतन्त्र देव ही बन गए। इस प्रकार के अनुसार सवित्, जिसका अर्थ प्रेरक अथवा जीवन दाता है तथा विवस्वत्' जिसका अर्थ प्रकाश सम्पन्न है, पहले सूर्य के विशेषज्ञ थे, परन्तु बाद में उन्होंने स्वतन्त्र देवों का ही रूप धारण कर लिया।

(३) विभिन्न कालों और जातियों के देव

ऋग्वैदिक देवों के विकास का एक तीसरा रूप वेद है जिसके अन्तर्गत कालभेद एवं जाति भेद के अनुसार देवों का विकास हुआ। इस परम्परा के अनुसार एक ही प्राकृतिक दृश्य से सम्बन्धित मूलत: एक ही देव को विभिन्न जातियों द्वारा विभिन्न नामों से अभिहित किए जाने के कारण पृथक्-देवों के रूप में स्वीकार किया गया।

पूषन् मूलत: एक छोटी सी जाति जो बाद में आर्यों में सम्मिलित हो गई, का सूर्य देव ही था जो वैदिक देव-कुल मे 'मार्गों के देव' के रूप में स्वतन्त्र रूप सम्मानित हुआ। यही नहीं उत्तर वैदिक 'देवकुल' मे मूलत: एक ही देव को काल भेद से व्यक्तिगत मान्यता भी दी गई। उदाहरण के लिए 'मित्र' जो ईरानी अवेस्ता के 'मिथरा' से अभिन्न है, मूलतया सूर्य देव ही था, जो बाद में स्वतन्त्रदेव के रूप में उपास्य हुआ।

किस देव का सम्बन्ध मूलतया किस प्राकृतिक दृश्य से है, इस सम्बन्ध में मतैक्य नहीं है। उदाहरणार्थ ओल्डन वर्ग रुद्र को पर्वतों और वनों का देव मानते हैं, जब कि विन्टरनिट्ज प्रभृति कुछ विद्वान रुद्र को झंझावातों का देव मानते हैं।

(४) भावात्मक देवों का विकास

प्राकृतिक दृश्यों से विकसित देवों के अतिरिक्त ऋग्वेद में अनेक ऐसे देव भी मिलते हैं, जिनका विकास भावात्मकता पर आधारित है ऋग्वेद में ऐसे देवों के निम्नलिखित दो वर्ग बनते हैं।

(१) प्रथम वर्ग के अन्तर्गत वे देव आते हैं, जिनका विकास मनोभावों के सीधे मानवीकरण के रूपों में हुआ है। ऐसे देवों में 'काम' है। ऐसे देव अत्यन्त न्यून संख्या में ही उपलब्ध हैं। इस प्रकार के देवों का उल्लेख ऋग्वेद के बाद के सूक्तों में ही मिलता है।

(२) द्वितीय वर्ग में प्रथम वर्ग की अपेक्षा अधिक देव हैं। दूसरे वर्ग के देवों में वे देव आते हैं जो या तो कर्तृत्व के बोधक हैं' जैसे धाता और या किसी व्यापार विशेष के बोधक है, जैसे प्रजापति।

इस प्रकार दूसरे वर्ग के देवों में सविता[1] धाता[2] प्रजापति[3] त्वष्टा[4], अदिति[5], दिति[6] एवं मन्यु[7] तथा श्रद्धा आदि आते हैं।

५. उपर्युक्त देवों के अतिरिक्त कुछ निम्न श्रेणी के देव भी ऋग्वेद में उपलब्ध हैं। ऋभु, अप्सरायें और गन्धर्व इसी कोटि के देव हैं। ये योनियां अपने कौतूहल जनक कार्यों के कारण ही देव कोटि के अन्तर्गत आती हैं।

---

१. ऋग्वेद १।३५।८,६।६।७१।३, ६।७१।१, ६।७१।५ आदि

२. ऋग्वेद ७।३५।३, १०।१६७।३, १०।८२।२, १०।१६०।३, १०।१२८ ७, १०।१५८।३ आदि।

३. ऋग्वेद १०।८५।४३, १०।१८४।१, ६।५।६, १०।१६६।४ आदि।

४. ऋग्वेद १०।८३।१, १०।८४।१ ५. ऋग्वेद १०।१५१।१

६. ऋग्वेद ६।४७।१६, ६।४६।६, ३।५४।१२, ५।३१।४, १।२०।६, १।६१।५ आदि

७. वही ८।१६।१४, २।४०।६, ७।४०।४, ५।४६।६, १।१३६।३, ७।१०।४,५।६६।३, ८।२५। आदि

८. ऋग्वेद ५।६२।८, ४।२।११, ७।१५।१२

६. ऋग्वेद की पौराणिकता के अन्तर्गत कुछ ऐसी दुश्चेतनाओं का वर्णन भी मिलता है जो देवों के शत्रुओं के रूपमें समझी जाती है। असुर, दस्यु अथवा दास एवं राक्षस इसी प्रकार के देव शत्रु हैं। इनमें राक्षस अत्यन्त आततायी हैं।

७. ऋग्वेद के अन्तर्गत पितरों को भी पौराणिक महत्ता प्रदान की गई है। मृत्यु के बाद ये पितर अपने राजा यम के साथ निवास करते हैं।

मर्त्यों में मरने वाले यम सबसे पहिले हैं। मृतकों में प्रथम और प्राचीनतम होने के कारण यम को उनके अनुगामी मृतकों का नेता माना गया है। सम्भवत: प्रतिदिन अस्त होने वाले सूर्य अथवा मासिक रूप से लुप्त होने वाले चन्द्र से यम की धारणा विकसित हुई है, ऐसा भी कतिपय विद्वानों का विचारहै। उदाहरण के लिये, हिलेब्राड्ट यम को चन्द्रमा ही मानते हैं।

८. अनेकविध उपयोगी पशु (जैसे, अश्व और गौ) भयावह कीट (सर्पादि) एवं अनेक वनस्पतियों को ऋग्वेद में पौराणिक महत्ता प्रदान की गई है। उत्तर-वैदिक साहित्य के अन्तर्गत इन पौराणिक तत्त्वों का वर्णन प्रचुर रूप में मिलता है। 'सोम' इस कोटि का परम उदाहरण है।

९. ऋग्वैदिक देववाद की यह विशेषता है कि उसके अन्तर्गत स्वयं मनुष्यकृत वस्तुओं को देवत्व प्रदान किया गया है। इसके साथ ही साथ इन वस्तुओं की देव सदृश आराधना भी की गई है। ये वस्तुएं वे है जो मनुष्य के लिए अत्यधिक उपयोगी सिद्ध हुई हैं। मुख्यरूप से इन वस्तुओं में यज्ञीय उपकरण आते हैं। इन उपकरणों में यज्ञ यूप, ग्रावन् या अद्रि, मुसल उलूखल तथा शुन एवं सीर आदि आते हैं। इन उपकरणों की प्रार्थना ऋग्वेद में निम्नलिखित रूप में की गई है:—

यज्ञयूप से की गई प्रार्थना

ऋग्वेद के तृतीय मण्डल के अन्तर्गत-यज्ञ यूप से प्रार्थना करते हुए कहा गया है कि हे वनस्पते देवताओं की कामना करने वाले अध्वर्यु दिव्य सोम

रस द्वारा तुम्हें सींचते हैं। तुम चाहे बीज रूप से पृथ्वी में शयन करो या ऊँचे उठो हमें धन प्रदान करो[1]।

ग्रावन या अद्रिसे की गई प्रार्थना

अग्वेद के दशम मण्डल के अन्तर्गत ग्रावन या अद्रि से प्रर्थना की गई है। इस स्थल पर कहा गया है कि हे सोम के निष्पीड़न कारी पाषाणों! सविता देव तुम्हें अपने बल से सोमाभिषव कर्म में लग कर सोम रस को सिद्ध करो।[2]

मुसल उलूखल से की गई प्रार्थना

प्रथम मुसल उलूखन के उपयोगी स्वरूप पर प्रकाश-डालते हुए प्रार्थना की गई है कि हे अखल! तुम घर-घर में काम में लिए जाते हो। फिर भी हमारे इस घर में विजय दुन्दुभि के समान शब्द करो। हे अखल मुसल वनस्पते! वायु तुम्हारे सामने विशेष गति से चलती है। हे अखल, तुम इन्द्र को पीने के लिए सोम को सिद्ध करो[3]।

शुक और सीर नामक कृषि देवों का आह्वान

ऋग्वेद के चतुर्थ मण्डल में शुन और सीर नामक कृषि देवों का आह्वान करते हुए कहा गया है कि हे अन्नपते, और स्वामीन्! तुम दोनों ही हमारी स्तुतियों को सुनो। तुमने आकाश में जिस जल की रचना की है, उसके द्वारा ही इस पृथ्वी को सींचो।[4]

---

१. अञ्जन्ति त्वामध्वरे देवयन्तो वनस्पते मधुनादैव्येन।
यदूर्ध्वस् विष्ठाद्रविणेह धत्तात् यद्वा क्षयो भानुरस्या उपस्थे॥
ऋग्वेद ३।८।१ तथा देखिये, वही ३।८।२

२. प्रवो ग्रावाण: सविता देव: सुवतु धर्मणा।
धूर्णु युज्यध्वं सुनुत। (ऋग्वेद १०।१७५।१)

३. ऋग्वेद १।२८।५, १।२८।६

४. शुना सीरा विमां वाचं जुषेथां यद्दिवि चक्रथु: पय:। तेनेमामुप सिञ्चतम्। ऋग्वेद ४।५७।५

उपर्युक्त प्रार्थनाओं में वर्तमान धार्मिक प्रवृत्ति निश्चय ही सुदूर अतीत की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट करती है। अब यहाँ ऋग्वैदिक धर्म की विशेषताओं के सम्बन्ध में विचार किया जाएगा।

ऋग्वैदिकधर्म की विशेषताएं

ऋग्वेद संहिता भारतीय धर्म का प्राचीनतम एवं महत्वपूर्ण आधार है। साधारणतया कतिपय वेद-विवेचकों के द्वारा यह कहा गया है कि ऋग्वेद में यज्ञ सम्बन्धी वर्णन ही प्रधान है, परन्तु यह धारणा अतिशय भ्रान्त है। ऋग्वेद के परवर्ती खंडों से लोक धर्म का अच्छा परिचय मिलता है। निदर्शन के लिए ऋग्वेद के अन्तर्गत हमें मृतक के प्राण लौटाने,[1] सन्तान प्राप्ति[2], शत्रु विनाश[3], यक्ष्मा के प्रतिकार[4], नींद-लाने[5] एवं सपत्नी बाधन[6] आदि से सम्बन्धित सूत्र मिलते हैं। इसके अतिरिक्त भी कई अन्य सूक्तों में लोकधर्म से सम्बन्धित वर्णन मिलते हैं। परन्तु ऋग्वेद संहिता के अन्तर्गत लोकधर्म का उपयुक्त परिचय मिलने पर भी यह कथन उचित ही होगा कि लोकधर्म का पूर्ण स्वरूप और विकास परवर्ती संहिताओं और उनमें भी अथर्ववेद संहिता में ही उपलब्ध होता है।

यहां ऋग्वैदिकधर्म की कतिपय प्रमुख विशेषताओं का उल्लेख किया जाएगा।

बहुदेववाद, एकेश्वरवाद, सर्वदेववाद और सर्वोच्चदेववाद

ऋग्वेद का धर्म अनेक देवों की पूजा से सम्बन्ध रखता है। इन देवों में अधिकांश किसी न किसी रूप में प्राकृतिक शक्तियों के मानवीकरण

१ 'ऋग्वेद १०।५८;७०।७-१२
२ १०।१८३
३ १०।१६६
४ १०।१६३
५ ५।५५
६ १०।१४५, १०।१५९

के फलस्वरूप हैं इस प्रकार ऋग्वेद का धर्म विश्वदेववादी धर्म है। मुख्य रूप से मन्त्रों का प्रयोग इन देवों के आह्वान तथा सोमयज्ञ एवं हवि की आहुति के समय किया गया है।

यों तो ऋग्वेद के अन्तर्गत अनेकानेक देवों एवं देवियों का वर्णन उपलब्ध होने के कारण बहुदेववाद की धारणा अत्यन्त स्पष्ट है, परन्तु सूक्ष्म दृष्टि से विचार करने पर इस बहुदेववाद के मूल में भी एकेश्वरवाद की स्पष्ट पृष्ठभूमि मिलती है। ऋग्वेद में प्रायः सभी देवों को समान रूप से शक्ति सम्पन्न कहना, एक देव को विभिन्न देवों में प्रवर्त्तिनि बतलाना[1] आदि तथ्य एकेश्वरवाद के ही आधारभूत हैं। एकेश्वरवाद की इस धारणा का और अधिक विकास उस ऋग्वैदिक विचार में मिलता है जिसके अन्तर्गत विभिन्न देव एक ही देव के विभिन्न रूप बतलाए गए हैं। ऐसे उदाहरण ऋग्वेद में अनेक हैं। ऋग्वेद में एक स्थल पर कहा गया है कि विप्र लोग एक ही देव को विभिन्न नाम लेकर पुकारते हैं; वे इस एक को अग्नि, यम और मातरिश्वा नाम से पुकारते हैं।

इस प्रकार मेधावी कवि एक ही सुपर्ण को अनेक प्रकार से देखते हैं।[2] इन विचारों के आधार पर मैक्डोनल का कहना है कि ऋग्वेद में बहुदेववाद-प्रवण एकेश्वरवाद का आविर्भाव हो चुका था। निश्चय ही ऋग्वैदिक देववाद के मूल में एक देव की धारणा परवर्ती एकेशरवाद एवं अद्वैतवाद का स्पष्ट आधार कही जा सकती है।[3]

बहुदेववाद एवं एकेश्वरवाद के अतिरिक्त ऋग्वेद में सर्वदेववादी विचारधारा का उद्गम भी ऋग्वेद में सरलता से देखा जा सकता है।

---

१. त्वमग्ने वरूणो जायसे यत् त्वं मित्रो भवसि यत् समिद्धः।
त्वे विश्वे सहसस्पुत्र देवास्त्वमिन्द्रो दाशुषे मर्त्याय। ऋग्वेद—५।३।१
(हे अग्ने ! तू वरूण है, समिद्ध होने पर तू मित्र है। हे शक्ति के पुत्र तुझमें सभी देव केन्द्रित हैं । तू उपासक के लिए इन्द्र है।)

२. ऋग्वेद १।१६४।४६

३. विशेष देखिए, डा० राममूर्ति शर्मा, अद्वैतवेदान्त, द्वितीय अध्याय।

सर्वदेववादी विचार के अन्तर्गत ऋग्वेद में एक देवता को सभी देवों का मूल ही नहीं कहा गया है, प्रत्युत वह समस्त प्रकृति का प्रतिनिधित्व भी करता है। उदाहरण के लिये अदिति की तद्रूपता केवल देवों के साथ ही नहीं बतलाई गई है, प्रत्युत मानवों, समस्त भूत एवं भविष्य पदार्थों एवं वायु और स्वर्ग के साथ भी अदिति के तादरूप्य का वर्णन ऋग्वेद में मिलता है[1]। इसी प्रकार प्रजापति समस्त पदार्थों को व्याप्त किये हुये बतलाए गये है[2]।

ऋग्वेदिक देव वर्णन की एक विशेषता यह है कि उसमें अनेक व्यक्तिगत देवों का वर्णन उन्हें सर्वोच्च मानकर किया गया है। इस वर्णन की यह विशेषता है कि वैदिक ऋषि किसी एक देवता की स्तुति के समय उसकी सर्वोच्चता का वर्णन करते हुये दूसरे देवता के सर्वोच्चत्व को भूल जाते हैं। यह स्तोता ऋषियों की भावलीनता का ही परिणाम है। मैक्समूलर ने देवों के सर्वोच्चता सम्बन्धी वर्णन के सिद्धान्त को 'हेनोथीज्म' (Henotheism) का नाम दिया है[3]। हेनोथीज्म की विचारधारा के अनुसार जिस समय जिस देवता का वर्णन किया जाता है, उस समय उसका सर्वोच्च रूप से वर्णन किया जाता है।

१. अदितिर्द्यौरदितिरन्तरिक्षमदितिर्माता स पिता स-पुत्रः।
विश्वे देवा अदितिः पञ्चजना अदितिर्जातमदितिर्जनित्वम्॥
ऋग्वेद १।८९।१०

२. ऋग्वेद १०।१२१।१०

3. ··· — to address either Indra or Agni or Varuna as for the time being the only God is existing with an entire forgetfulness of all other gods, is quite another, and it was this whose so fully developed in the hyms of the veda, which I wished to mark definitely by a name of its own calling it Henotheism (Page 39) Maxmuller, Six systems of Indian Philosophy vol II.

प्रो० वेबर एवं कतिपय अन्य विद्वानों को मैक्समूलर द्वारा प्रतिपादित हैनोथीज्म' का सिद्धान्त मान्य नहीं है। इस सिद्धान्त की आधार भूता यह मूल प्रवृत्ति प्रतीत होती है कि किसी एक देवता की विशेषताओं का वर्णन करते समय वर्णन कर्ता ऋषि की दृष्टि में अन्य देवताओं की सत्ता का लोप सा रहता है। और स्तूयमान देवता ही सर्वगुण सम्पन्न एवं सर्वोच्च दिखाई पड़ता है। मेरे विचार से इसका कारण यही प्रतीत होता है कि वर्णन कर्त्ता ऋषि का मन जिस समय देवता के गुणों से प्रभावित होता था उस समय वह उसको सर्वोच्च समझकर वर्णन करता था परन्तु इससे अन्य देवताओं का मूल्य किसी प्रकार कम नहीं हो जाता। यही कारण है कि एक स्थल पर यदि इन्द्र को सर्वप्रधान एवं उत्कृष्टतम (ऋग्वेद संहिता ५।३०।५) कहा गया है तो एक दूसरे स्थल पर वरुण देवता को अखिल भुवन का अधिपति कहा गया है (ऋग्वेद संहिता ५।८५।३)

देवताओं में मानवीयता का आरोप

ऋग्वेद के सभी देवता असाधारण मानवीय विशेषताओं से युक्त माने जाते हैं मनुष्य के समान सभी देवों का जन्म एवं प्रारम्भ होता है, ऋग्वैदिक ऋषियों का विश्वास था। परन्तु इन सभी को एक साथ उत्पन्न नहीं माना जा सकता, क्योंकि ऋग्वेद में कुछ देवताओं की उत्पत्ति पहले मानी गई है और कुछ अन्य उन्ही के पुत्र माने गए हैं। मूल रुप से ये देव भक्त ही थे, किन्तु वे सोम- पान के पश्चात् अमर हो गए थे, या फिर सविता या अग्नि ने उन्हें अमरत्व प्रदान किया था। देवताओं का आचार-मानवों जैसा ही माना जाता था इन देवताओं के विभिन्न अंग प्रायः उनके द्वारा धारित प्राकृतिक अङ्गों के आलङ्कारिक वर्णन के फल स्वरुप हैं। उदाहरण के लिए सूर्य कि किरणें उसके हाथ हैं। इसी प्रकार अग्निदेव की ज्वालाऐं उसकी जिह्वाऐं हैं इसके अतिरिक्त कुछ देवता मानव के समान योद्धा के रुप में भी वर्णित हुए है। इस प्रकार के देवों में इन्द्र जैसे देवता आते हैं। मानवों के समान कतिपय

देवता जैसे कि अग्नि और बृहस्पति, पुरोहित के रूप में माने गये हैं। ये देवता मनुष्यों की तरह अपने-अपने रथों पर सवार होकर वायु मार्ग से यात्रा करते हैं। मनुष्यों के समान उनका भोजन भी दूध, मक्खन, अन्न तथा भेड़ बकरी का मांस आदि है। यज्ञ में यह भोजन उन्हें अग्निदेव द्वारा पहुंचाया जाता है, या फिर वे स्वयं आकर कुशासन पर बैठकर अपना-अपना अंश ग्रहण करते हैं। सभी देवों का निवास स्थान स्वर्गलोक है, जो विष्णु का तृतीय पद है। सभी देवों का प्रिय पेय सोम है। यद्यपि सभी का निवास स्वर्ग लोक है तथापि कार्य क्षेत्र की दृष्टि से देवताओं को पृथ्वी, अन्तरिक्ष और स्वर्ग से सम्बद्ध तीन वर्गों में विभाजित किया जा सकता है। इस प्रकार ऋग्वेद में आये ३३ देवता ग्यारह-ग्यारह के हिसाब से तीन वर्गों में रखे जा सकते हैं। परन्तु यह संख्या अपर्याप्त है, क्योंकि इसमें मरुत् आदि देवों का समावेश नहीं है।

ऋग्वेद और पशुपूजा

ऋग्वेद के अन्तर्गत पशु पूजा का भी स्पष्ट रूप दिखाई पड़ता है। उदाहरण के लिए अश्व-प्रमुख दधिक्रा को ले सकते हैं। यह अश्वरूप देव है। दधिक्रा को निघण्टु में अश्व का पर्यायवाची माना गया है। दधिक्रा की स्तुति पौफटने ही अग्नि को समिद्ध करके की जाती है। उसका आह्वान उषाओं के साथ किया जाता है। (ऋग्वेद ४।३९।३)[1]

रॉथ और ग्रासमान के अनुसार दधिक्रा सूर्य विम्ब का प्रतिरूप है। वेर्गेन साहब दधिक्रा को अग्नि-सामान्य का प्रतिरूप मानते हैं। परन्तु लुड्विग, पिशेल और ओल्डनवर्ग के अनुसार दधिक्रा कोई देव न होकर अश्व-विशेष ही था। इसी प्रकार तार्क्ष्य, पैद्व तथा एतश भी यत्किञ्चित् पशुदेवों के ही रूप है। ये तीनों भी अश्व रूप ही है। इनमें एतश का प्रयोग तीव्र अर्थ के बोधक विशेषण के रूप में भी हुआ है। तार्क्ष्य इन्द्र के दान के रूप

१. देखिए, ऋग्वेद ४।३८।१, आदि ४।३९।१ आदि ४०।४०।१ आदि तथा ७।४४।१ आदि।

में आहूत हुआ है। ऋग्वेद (४।३८।१०) में कहा गया है कि तार्क्ष्य ने अपनी शक्ति से पंचजनों को उसी प्रकार व्याप्त कर रखा है, जिस प्रकार कि सूर्य अपने प्रकाश से सलिलों को व्याप्त किए रहता है। पैद्व एक श्वेत अश्व है। पैद्व की तुलना ऋग्वेद (१।११९।१०) में इन्द्र के साथ की गई है। वैसे, पैद्व भी सूर्य का ही प्रतीक प्रतीत होता है। एतश का वर्णन ऋग्वेद (८।१।११) में सूर्य के अश्व के रूप में मिलता है। एतश का सविता रूप में भी उल्लेख मिलता है। ऋग्वेद में एक स्थल पर कहा गया है कि सविता एतश है और उन्होंने पार्थिव लोकों को मापा है।[1]

उपर्युक्त की ही तरह ऋग्वेद मे वृषभ, गो, अज एवं श्वान आदि का भी महत्त्व देखने को मिलता है। ऋग्वेद में इन्द्र को वृसभ कहा गया है। यह शब्द द्यौस् जैसे देवताओं के लिए भी प्रयुक्त हुआ है। इसी प्रकार गो को भी आदर का स्थान मिला है। इसे अदिति तथा देवी का रूप दिया गया है।[2] अथर्ववेद में तो गो की एक पवित्र पशु के रूप में पूजा भी मिलती है। (१९।४।५)। इसी प्रकार अज भी एक पार्द एवं दिव्य प्राणी है। कुत्ता वेद में सारमेय नाम से मिलता है। किन्तु कुतिया का निश्चय नहीं है।

हमें यहाँ यह कहने में सङ्कोच नहीं है कि उपर्युक्त पशुपूजा का मूल आधार प्रतीकवाद है।

ऋग्वेद में उपलब्ध आख्यान साहित्य की प्रकृति और उसका उद्देश्य

यों तो स्वामी दयानन्द सरस्वती जैसे विचारक ऋग्वेद का एकमात्र आध्यात्मिक अर्थ ग्रहण करते हैं। वे संहिताओं में आए हुए व्यक्तियों, स्थानों (जो ऐतिहासिक हैं) पर प्रायः आध्यात्मिक अर्थ का ही आरोप करते हैं,

---

१. यः पार्थिवानि वियमे स एतशो रजांसि देवः सविता महित्वना ॥
ऋग्वेद ५।८१।३

२. देखिए, वैदिक देवशास्त्र पृ० ३९३,

तथापि वैज्ञानिक अध्ययन के द्वारा हम इसी निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि ऋग्वेद लौकिक एवं अलौकिक दोनों ही प्रकार के ज्ञान का अक्षय्य भण्डार है। इसमें जहाँ विज्ञान की विविध शाखाओं का सम्यक् विकास दिखाई पड़ता है, वहाँ उच्चकोटि की साहित्यिक सामग्री भी उपलब्ध होती है। आधुनिक साहित्य की जो अनेक विधाऐं उपलब्ध हैं, उनमें महाकाव्य और नाटक-सर्वाधिक महत्वपूर्ण हैं। ऋग्वेद की साहित्यिक सामग्री, जो आख्यान के रूप में है, इतनी अधिक मनोरम और आकर्षक सिद्ध हुई कि उनके आधार पर लौकिक संस्कृत में कितने ही महाकाव्य एवं नाटक उदित हुये हैं। ये आख्यान ऋग्वेद में आख्यान सूक्तों के रूप में उपनिबद्ध हैं। इन आख्यानों में लगभग २० इस प्रकार हैं जो ऋग्वेद और लौकिक नाटक एवं महाकाव्य साहित्य के संयोजक सूत्र हैं। इस सम्बन्ध मे डॉ० विन्टर निट्ज ने लिखा है—

There exists also a number of Poems in R-V-S there might be about twenty of them-which form a connecting link with the epic and dramatic poetry.

इस प्रकार के आख्यान कुछ तो संवाद सूत्र के रूप में हैं और कुछ वर्णनात्मक रूप में।

ऋग्वेद में अनुस्यूत आख्यान

आख्यान का सामान्य अभिप्राय इतिवृत्तात्मक कथा से है। ऋग्वेद में ये आख्यान अनेक है। दिङ् निर्देश के लिए कुछ आख्यान इस प्रकार हैं:—

१. इन्द्र और पवि का आख्यान

२. कक्षीवान् की कथा

३. वामनावतार की रचना

४. शुनः शेप की कथा

५. नहुष की कथा

६. सूर्योपाख्यान
७. शर्याति की कथा
८. दधीचि आख्यान
९. विश्पला की कथा
१०. मान्धाता की कथा
११. प्रथुश्रवा की कथा
१२. घोषा की कथा
१३. च्यवन आख्यान
१४, पुरूरवोर्वशीय संवाद
१५. यमयमी संवाद
१६. सरमा व पणि का संवाद

सभी आख्यान समान प्रकृति के हों, ऐसी बात नहीं है। मुख्य रूप से इन आख्यानों के निम्न रूप निश्चित किये जा सकते हैं—

(क) संवादात्मक आख्यान

इन संवादों में नाटकीय सौन्दर्य झलकता है। ये पारस्परिक संवाद के रूप में हैं। इस प्रकार के संवादात्मक सूत्रों (dialogue hymns) की संख्या, जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है। विन्टर निट्ज के अनुसार २० है। पाश्चात्य विद्वान् ओल्डनबर्ग ने ऐसे ही संवाद सूक्तों को आख्यान सूक्त कहा है और उनके सम्बन्ध में एकमत प्रतिपादित किया है। उनके मतानुसार ये आख्यान सूक्त मौलिक रूप में रचित गद्य पद्य मिश्रित काव्यों के पद्यात्मक अंश हैं। इन काव्यों में व्यक्तियों के पारस्परिक कथनोपकथन पद्यों के रूप में थे, जबकि सम्बन्धित घटनाओं का वर्णन गद्यात्मक होता था। ऋग्वेद में, जो केवल पद्यात्मक है, गद्य अंश को पूर्णत: उपेक्षित कर दिया गया है।

(i) हाल में इन संवाद सूक्तों (या आख्यान सूक्तों) के विषय में प्रतिपादित ओल्डनबर्ग के सिद्धान्त का विरोध किया गया है। कुछ वर्षों पूर्व मैक्समूलर

एवं सिल्वांलेवी ने सुझाव दिया था कि ऋग्वेद के ये संवाद सूक्त एक प्रकार के नाटक हो सकते हैं। इस मत की पुष्टि हर्टेल एवं श्रोडर ने भी की थी। जिनके अनुसार निश्चय ही ये संवाद तत्सम्बन्धी नाटकों के संवाद हैं। यदि उन्हें अपेक्षित अभिनय का पुट दे दिया जाय तो वे अविकल नाटक रूप में परिणत हो सकते हैं।

(ii) विन्टर निट्ज महोदय इन आख्यान सूक्तों को लोक गीत मानते हैं। विन्टर निट्स के अनुसार ये आख्यान सूक्त नाटकीय और घटना वर्णनात्मक उभय प्रकार के तत्वों से युक्त हैं।

इन संवाद सूक्तों के सम्बन्ध में पाश्चात्यों के ये विविध मत एकांकी हैं। वास्तविकता यह है कि वैदिक ऋषियों ने इन आख्यानों का सृजन भी अन्य आख्यानों की तरह पद्य में ही किया होगा, जिनको किसी प्रयोजन से संहिता में उपनिबद्ध किया गया।

(ख) कुछ आख्यान पौराणिक प्रकृति के हैं, जो परम्परया तत्कालीन समाज में प्रचलित थे। शुनः शेप, वामनावतार, नहुष, राजा, शर्याति आदि की कथायें इसी प्रकार की हैं।

(ग) वे आख्यान जो ऐतिहासिक दृष्टि से वास्तविक प्रतीत होते हैं। इनका आधार वे वास्तविक घटनायें हैं, जिनको ऋषि कवियों ने साक्षात् देखा था। कुष्ट वृद्धा घोषा जुआरी की कथा, लंगड़े व अन्धे परावृज ऋषि की कथा इसी प्रकार की है।

(घ) इस श्रेणी में वे आख्यान आते है, जिनमें भावना की अतिरेकता है, जिनमें काव्यात्मक रमणीयता है। इनमें यथार्थता न्यूनरूप में ही मिलती है। दशम मण्डल का ८५ वां सूक्त, जिसका प्रतिपाद्य सूर्योपाख्यान है, इसी कोटि के अन्तर्गत आता है। इसमें सूर्या (सूर्य की कन्या) का सोम (चन्द्रमा) के साथ अश्विनकुमारों के द्वारा सम्पन्न विवाह का उल्लेख है। विन्टर निट्ज ने इस सूक्त को भी संवाद सूक्तों के अन्तर्गत परिगणित किया है एवं अन्य संवाद कविताओं की तरह इसे भी वे लोकगति (ballad poetry) मानने के पक्ष में है।

(च) आख्यानों की और श्रेणी भी देखने को मिलती है, जिसे हम दार्शनिक आख्यान श्रेणी कह सकते हैं। काम सूक्त इसी प्रकार की दार्शनिक सृष्टि सम्बन्धी कथा है। बाद के साहित्य में स्वयं ब्राह्मणों में इस प्रकार की कथायें अर्थवाद के प्रसंग में पुराण नाम से अभिहित हुई हैं।

वैदिक आख्यानों का प्रयोजन

गम्भीर और सावधान अध्ययन इस बात की सूचना देता है कि ये आख्यान किन्हीं प्रयोजनों के कारण अनुस्यूत किये गये हैं। इनके प्रमुख लक्ष्य ये प्रतीत होते है—

तत्कालीन इतिहास का सुरक्षण

(१) ऋग्वेद में ऋषियों ने कतिपय आख्यानों का समावेश ऐतिहासिक व्यक्तियों, घटनाओं —जिनकी महत्ता से जन साधारण परिचित था, को सुरक्षित एवं अमर बनाने के लिए हुआ है। द्वितीय अष्टक में तुग्रराजा के पुत्र की समुद्रयात्रा का वर्णन, नहुष एवं शर्याति राजा आदि के उपाख्यानें के उपनिबन्धन का यही प्रयोजन प्रतीत होता है। इन कथाओं तथा इसी प्रकार की अन्य कथाओं से राजनैतिक इतिहास की झांकी देखने को मिलती है।

(२) कुछ आख्यानों में ऋषि कवियों का प्रयोजन शुद्ध सांस्कृतिक चित्रण प्रतीत होता है। उसमें तत्कालीन समाज की सांस्कृतिक अवस्था का बहुत कुछ परिचय मिलता है। कुष्ट वृद्धा घोषा के विवाह की कथा, स्वयम्वर में वृद्ध कक्षीवान् का युवती से विवाह, स्वयं राजा द्वारा कक्षीवान् को दिये गये यौतक का वर्णन, अन्धे व लंगड़े परावृज ऋषि का अनेक कन्याओं से विवाह आदि के उल्लेख से युक्त कथायें तत्कालीन समाज की दिशाओं पर प्रकाश डालती हैं। इनका लक्ष्य एक डायरी की भांति प्रतिदिन की घटनाओं को अमर रखने की कामना है अथवा अपने समय के नग्न सत्यों को अमिट रखने की प्रवृति है।

(३) मनुष्य में कथा के प्रति नैसर्गिक आसक्ति होती है। इसी आसक्ति

के कारण अनेक परम्परित 'आदिम समाज एवं संस्कृति' से सम्बद्ध कथाओं को ऋषि कवि भी अलग न रख सके। ऋग्वैदिक ऋषियों को ये प्राचीन आख्यान धरोहर में मिले थे। यम-यमी का संवाद भी इसी प्रकार का आख्यान है। इसका सम्बन्ध आदिम संस्कृति से है। जर्मन विद्वान् वेबर ने यम शब्द का अर्थ युग्म ग्रहण किया है और यमी को इसी का स्त्री रूप माना है।। वेबर के ही अनुसार विन्टर विट्ज ने लिखा है—

An old myth of the origin of the human race from a first pair of twins underlies the conversation.

(४) ऋषि कवियों ने अर्वाचीन कवियों की तरह कान्ता सम्मित शैली में उपदेश देने के लिए अपनी काव्यात्मक कृति ऋग्वेद में काव्याविध आख्यानों एवं उपाख्यानों का यथावश्यक आधान किया था। वामनावतार की कथा में इस नैतिक उपदेश—"महान् से महान् व्यक्ति भी सामान्य व्यक्ति द्वारा पराजित किया जा सकता है। अतः अभिमान नहीं करना चाहिए" को वर्णित किया गया है।

(५) ऋग्वैदिक ऋषियों ने आख्यानों के माध्यम से आध्यात्मिक तत्वों की व्यंजना की है। उदाहरणार्थ दय गाय की जन्म कथा को ले सकते हैं। प्रथम अष्टक के १२१ वें सूक्त में आई हुई इस कथा में घोड़ी और गाय का प्रतीकात्मक प्रयोग हुआ है। घोड़ी रागात्मिक वृत्ति तथा गौ भक्ति की प्रतीक है। रागात्मिका वृत्ति भी लक्ष्य भेद से भक्ति मे परिवर्तित हो हो सकती है। इस कथा के यदि प्रतीकात्मक अर्थ को दूरारूढ़ बताया जाय तो फिर ऋग्वेद में इस प्रकार की आश्चर्यास्पद कथाओं के प्रयोग का क्या प्रयोजन? प्रतीकात्मकता तो अन्यत्र भी प्रचुर मात्रा में उपलब्ध होती है। उदाहरण के लिए प्रथम अष्टक के नवम सूक्त में लिखा है—'अग्नि अपनी माता की जन्म दाता हैं। इसमें अर्थ विषयक प्रतीकात्मकता के बिना अनौचित्य होगा। अतः प्रतीकात्मकता स्वीकार्य है। इसी प्रकार गाय के जन्म की कथा के सम्बद्ध में भी प्रतीकात्मकता का ही सहारा लेना चाहिये।

(६) ऋग्वेदिक ऋषि कवि पहले थे और इसके पश्चात् धार्मिक या और

कुछ। इन ऋषियों ने कुछ आख्यानों की अवतारणा शुष्क वर्णन को सजीव और सत्य बनाने के लिए की। ये वर्णन अधिकांशतः शृङ्गारिक एवं हास्य प्रधान हैं। लोपामुद्रा की कथा इसी उद्देश्य से की गई जान पड़ती है।

(७) आर्नल्ड ने अपने वैदिक मीटर में वैदिक आख्यानों के विषय में एक अभिनव मत प्रस्तुत करते हुए कहा है—

…………Poets for the first time wrestle with the moral and aesthetic problems associated with the relationship of man to woman. In these myths the woman generally appears as the temptress not perhaps so much from sensual impulse as from the desire of children whilest the duty of man is always abstinence with out any regard even to claims of marriage[1].

ऐसा प्रतीत होता है कि भारत की मूल निवासिनी स्त्रियों ने आर्य राजकुमारों को ब्राह्मण धर्म के यज्ञादि कृत्यों के अनुष्ठान से च्युत कर दिया होगा और विशेषतः ब्राह्मणों को दक्षिणा देने के कार्य से। इस प्रकार सम्भवतः पुरोहितों और रानियों की सखियों में विरोध उत्पन्न हो गया होगा।

इसीलिये पुरुरवा और उर्वशी की कथा के सम्बन्ध में आर्नल्ड का विचार है—

However dramatically, the sneer may suit the occasion in the mouth of Urvashi, it reveals a bitter grudge in some poets' mind against faminine influence[2].

उपर्युक्त कथन के अन्तर्गत भी आर्नल्ड ने पुरुरवोर्वशीय संवाद के अन्तर्गत उपलब्ध स्त्री प्रभाव की आलोचना की है।

इसी प्रकार यम-यमी सम्वाद के सम्बन्ध में भी यम की दृढ़ता के विषय में आर्नल्ड लिखते हैं—

So far as our poem reaches, yama does not yield, yet it is obvious that in the original form of the tale he must have given way[3].

1. E. Verken Arnold, Vedic metre Page 267
2. Vedie Metre Page 267
3. Vedic Metre—Page 268

द्वितीय अध्याय

यजुर्वेद–संहिता

परिचय

जिस प्रकार सामवेद संहिता उद्‌गाता के लिये गीतों की रचना है, उसी प्रकार यजुर्वेद संहिता अध्वर्यु के लिये स्तोत्रों या प्रार्थनाओं की पुस्तक है। पतञ्जलि ने अध्वर्यु–के वेद की एक सौ एक शाखायें बतलाई हैं। इसमें संदेह नहीं कि केवल इसी वेद की अनेक शाखायें रही होंगी, क्योंकि विभिन्न यज्ञीय कृत्यों के विषय में, जिन्हें अध्वर्यु को स्तोत्रों के साथ सम्पादित करना पड़ता था, अनेक दृष्टिकोणों एवं मतमतान्तरों की उत्पत्ति तथा लघु सम्प्रदाओं का जन्म होना कठिन नहीं था और फिर उन सम्प्रदाओं के अपने अपने विशिष्ट स्तोत्र एवं कर्मकाण्डीय ग्रन्थ होने भी अनिवार्य थे। किसी भी विशिष्ट कृत्य (Ceremony) या कर्मकाण्ड (Litergy) में लेश मात्र अन्तर भी एक नवीन वैदिक शाखा की उत्पत्ति के लिये पर्याप्त था। उपर्युक्त मतभेद के आधार पर यजुर्वेद की आज जो पांच शाखायें उपलब्ध हैं, वे कठ संहिता, कपिण्ठल कठ संहिता, मैत्रायणी संहिता, तैत्तिरीय संहिता एवं वाजसनेयि संहिता हैं।

यजुर्वेद के कृष्ण यजुर्वेद और शुक्ल यजुर्वेद, ये दो भेद प्रख्यात है। इस भेद का आधार तथ्य यही है कि जहां शुक्ल-यजुर्वेद की संहिता में केवल प्रार्थना परक एवं यज्ञ विधि परक मन्त्र हैं, वहाँ कृष्ण यजुर्वेद की शाखाओं में मन्त्रों के साथ-साथ याज्ञिक विधियों और उनसे सम्बन्धित विवेचन भी उपलब्ध हैं। इस प्रकार याज्ञिक प्रक्रिया का पक्ष कृष्ण यजुर्वेद की विशेषता है। कृष्ण यजुर्वेद में वैदिक मन्त्रों के साथ–साथ ब्राह्मण अंश भी वर्तमान है, जो इसे शुक्ल यजुर्वेद की अपेक्षा प्राचीन सिद्ध करता है।

ऊपर जिन कठादि संहिताओं का निर्देश किया गया है उनमें से कठ, कपिण्ठल, मैत्रायणी एवं तैतिरीय कृष्ण यजुर्वेद से सम्बन्धित हैं। केवल वाजसनेयि संहिता का सम्बन्ध शुक्ल यजुर्वेद से है। यहाँ इनके सम्बन्ध में संक्षिप्त निर्देश करना समीचीन होगा।

(१) **कठ संहिता**—कठ संहिता में पांच खंड है और इन खण्डों के नाम इंठिमिका, माध्यमिका, ओरमिका, याज्यानुवाक्या तथा अश्वमेधाघनुवचन हैं। खंड स्थानकों में विभाजित हैं। इस संहिता में ४० स्थानक, १३ अनुवचन, ८४ अनुवाक तथा ३०९१ मन्त्र है।

(२) **कपिण्ठल-कठ संहिता**—यह संहिता वाराणसेय–संस्कृत विश्व विद्यालय के सरस्वती भवन पुस्तकालय में अपूर्ण रूप में उपलब्ध है। इसी के आधार पर डा० रघुवीर ने इसका एक अपेक्षाकृत व्यवस्थित संस्करण लहौर से प्रकाशित किया है। यह संहिता अष्टकों में विभक्त हैं और इसमें पूर्ण अपूर्ण अष्टक वर्तमान है, किन्तु अपूर्ण होने पर भी इस संहिता का बड़ा महत्त्व है।

(३) **मैत्रायणी संहिता**—मैत्रायणी संहिता गद्य पद्य रूपात्मक है। इसमें ४ काण्ड हैं। प्रथम काण्ड में ११ द्वितीय में १३, तृतीय में १६ और चतुर्थ में १४ प्रपाठक हैं। इस संहिता में कुल मिलाकर ३१४४ मन्त्र है। इनमें से १७०१ ऋचायें ऋग्वेद से उदधृत की गई हैं। इस संहिता में दर्श पूर्णमास, अध्वर, चातुर्मास्य, अश्वमेध एवं राजसूय आदि यज्ञों का वर्णन किया गया है।

(४) **तैत्तिरीय अथवा आपस्तम्ब संहिता**:—इस संहिता में सात काण्ड, चौवालीस प्रपाठक तथा ६३१ अनुवाक हैं। इसमें वाजपेय तथा राजसूय आदि यज्ञों का वर्णन उपलब्ध है। तैत्तिरीय सहिता पर सायणाचार्य का बहुमूल्य भाष्य मिलता है।

वाजसनेयि संहिता—वाजसनेय संहिता का यह नाम याज्ञवल्क्य वाजसनेय के नाम पर आधारित है। वाजसनेय नाम इसलिए पड़ा कि सूर्य ने वाजि के रूप में यह संहिता याज्ञवल्क्य को वर रूप में प्रदान की थी।

वाजसनेयि संहिता के दो संस्करण हैं—एक काण्व और दूसरा माध्यान्दिन। इन दोनों संहिताओं का अन्तर केवल यज्ञीय सूत्रों में है जो स्वयं नगण्य हैं, ऋचाओं में नहीं। दोनों का विन्यासक्रम समान होने के कारण काल क्रम की दृष्टि से भी अधिक अन्तर नहीं कहा जा सकता। इस शाखा भेद का आधार भौगोलिक सीमायें ही प्रतीत होती हैं। इसीलिए दोनों में उच्चारण सम्बन्धी भेद मिलता है। उदाहरण के लिए माध्यन्दिन 'ष' के स्थान पर 'ख' पढ़ते हैं। इसके अनुयायी मध्यभारत तथा पूर्वी भारत में है।

वाजसनेयि संहिता में कुल चालीस अध्याय हैं। इनमें प्रथम अठारह ही मौलिक रचनाये हैं या फिर अधिक से अधिक पच्चीस। इस प्रकार डा० विन्टर निट्स आदि पाश्चात्य विद्वानों का विचार है कि अन्तिम १५ या २२ अध्याय पीछे से जोड़ दिए गये प्रतीत होते हैं। इस मत के समर्थन में निम्नलिखित तर्क उपयुक्त प्रतीत होते है।

(क) वाजसनेयि संहिता के प्रथम अठारह अध्याय, जिनमें मन्त्र भाग हैं, तैत्तिरीय संहिता में भी उल्लिखित है और शेष २२ अध्याय तैतिरीय संहिता से सम्बन्धित ब्राह्मण और आरण्यकों में ही जाते हैं। इसके अपवाद केवल वाजसनेयि संहिता के २२-२५ अध्यायों के कुछ अश्वमेध सम्बन्धी मन्त्र हैं।

(ख) इसके अतिरिक्त इन्हीं प्रथम अठारह अध्यायों के मन्त्रों की ही वाजसनेयि संहिता से सम्बद्ध ब्राह्मण के प्रथम नौ काण्डों में शब्दशः व्याख्या की गई है और स्थल-स्थल पर कहीं से उद्धरण भी दिये हैं, जबकि अग्रिम १७ अध्यायों से बहुत थोड़े मन्त्र उद्धृत किये हैं।

(ग) कात्यायन की अनुक्रमणी में भी २६ से ३५ तक के दस अध्याय को खिल अर्थात् परिशिष्ट बताया गया है। इस प्रकार भारतीय परम्परा से भी इसकी पुष्टि होती है।

निम्नलिखित अन्तरङ्ग प्रमाणों से भी उपर्युक्त वाक्यों का ही समर्थन होता है—

(अ) २६–२९ तक के अध्यायों में जो मन्त्र हैं वे उन्हीं कृत्यों से सम्बन्धित हैं, जिनका प्रथम २५ अध्यायों तक उल्लेख और विवेचन हो चुका है।

(आ) ३०–३९ तक १० अध्याय पूर्णतया नवीनकृत्यों जैसे पुरुषमेध, सर्वमेध एवं पितृपिण्ड यज्ञ से सम्बद्ध हैं। ४० वां अध्याय तो निश्चित ही बहुत बाद का है, क्योंकि यह अध्याय कर्मकाण्ड से तनिक भी सम्बन्धित नहीं लगता।

(इ) यजुर्वेद के विभिन्न भाग धार्मिक और सामाजिक विकास के विभिन्न कालों को सूचित करते हैं। उदाहरण के लिये १६ वें अध्याय के अन्तर्गत रुद्र देवता की अनेक विशेषणों के रूप में स्तुति की गई है, परन्तु उनमें ईशान और महादेव, ये दो अत्यधिक महत्त्वपूर्ण विशेषण नहीं हैं। ये ३९ वें अध्याय में जोड़े गये हैं और शिव की पूजा के एक विशेष पक्ष को सूचित करते हैं, जिसका विकास कुछ बाद को हुआ।

(ई) इसके अतिरिक्त ३० वें अध्याय में अनेक भारतीय मिश्रित जातियों का उल्लेख है, जबकि १६ वें अध्याय में कुछ का ही उल्लेख मिलता है। अतः यह सम्भव है कि जो जातियां ३० वें अध्याय के प्रणेता को मालूम

थीं, उनमें से कम से कम कुछ १६ वें अध्याय की रचना के समय नहीं थीं।

इस आधार पर शुक्ल यजुर्वेद के कालक्रम की दृष्टि से निम्नलिखित चार विभाग किये जा सकते है।

(१) १–१८ तक का मूल भाग।

(२) आगे के ७ (२५ वें अध्याय तक) सर्वप्रथम जोड़े गए होंगे, क्योंकि ये दोनों भाग सामान्य यज्ञीय कृत्यों से सम्बन्ध रखते हैं।

(३) कर्म काण्ड का विस्तार एवं विकास अगले १४ अध्यायों की रचना का कारण बना होगा। विस्तार २६ से २९ तक के अध्यायों का (जिसमें प्राचीन यज्ञों का और सूक्ष्म विवरण है) और विकास ३० से ३९ अध्याय तक। (जिसमें कुछ नवीन यज्ञों की विवेचना है) का कारण बना होगा।

(४) अन्तिम भाग ४० वां अध्याय उस समय का जोड़ा हुआ है, जिस समय कर्मकाण्ड से हटकर ज्ञान काण्ड की ओर प्रवृत्ति बढ़ रही थी।

उद्देश्य—सामवेद की तरह यजुर्वेद का भी सङ्कलन केवल यज्ञीय कृत्यों के उद्देश्य से किया गया था। परन्तु सामवेद जहाँ कर्मकाण्ड के केवल एक छोटे से भाग (सोमयाग) से सम्बन्धित है वहां यजुर्वेद सम्पूर्ण वैदिक कर्म-काण्ड के लिए मन्त्र एवं प्रार्थनायें प्रस्तुत करता है। सामवेद की ही तरह यह ऋग्वेद से भी सम्बन्धित है। परन्तु सामवेद जहाँ लगभग पूर्णतया ऋग्वेद की ऋचाओं पर आधारित है, वहां यजुर्वेद ऋग्वेद से ग्रहण करता हुआ भी अधिकांश में एक स्वतन्त्र कृति है। वाजसनेपि संहिता की केवल चतुर्थांश से कुछ अधिक ऋचायें १ ऋग्वेद में पाई जाती हैं। शेष में या तो यज्ञीय सूत्र हैं या फिर मौलिक ऋचायें जो यजुर्वेद के रचयिताओं के द्वारा ही बनाई गई हैं। यह मौलिकता कर्मकाण्ड के अत्यधिक प्रपंच के कारण आवश्यक हो गई, क्योंकि ऋग्वेद से इन नवीन कृत्यों के उपयुक्त ऋचायें पाना

असम्भव हो गया। इस सम्बन्ध में मैक्डोनल का निम्नलिखित कथन उद्धृत करने योग्य है—

The partial originality was indeed a necessary result of the growth of entirely new ceremonies and the extra ordinary development of ritual detail. It became inpossible to obtain from Rigveda even approximately suitable verses for these novel requirements.

वाजसनेयि संहिता का वर्ण्यविषय

वाजसनेयि संहिता के प्रथम २५ अध्यायों में प्रमुखतम यज्ञों के लिए स्तोत्रों का संग्रह है। पहले दो अध्यायों में दर्श (New moon) तथा पौर्णमास्य (Full moon) तथा तत् सम्बन्धित पिण्डपितृ यज्ञों के लिए स्तोत्र हैं। तीसरे अध्याय में प्रातःकालीन तथा सायंकालीन अग्निहोत्र ऋतुओं के प्रारम्भ मे होने वाले चातुर्मास्य यज्ञों के स्तोत्र हैं।

चतुर्थ से अष्टमसक के अध्यायों में सामान्य सोमयाग (अग्निष्टोम आदि) तथा उससे सम्बन्धित पशु यज्ञ के स्तोत्र है। सोम यज्ञों में कुछ तो एकाह सोम यज्ञ है और कुछ अनेक दिनों में सम्पन्न होने वाले। दोनों प्रकार के यज्ञों का वर्णन नवम तथा दशम अध्याय मे है। इकाह (एकदिन में पूरे होने वाले) यज्ञों में वाजपेय यज्ञ (शक्ति के लिये किया गया यज्ञ) है। यह यज्ञ मूलतया केवल क्षत्रियों और राजाओं के द्वारा किया जाता था तथा रथों की दौड़ से सम्बन्धित था। इस यज्ञ में सोम के स्थान पर सुरा का पान किया जाता था। केवल राजाओं से सम्बन्धित एक अन्य यज्ञ 'राजसूय' था। यह राज्याभिषेक के अवसर पर सम्पन्न होता था। जब यात्रा का नाट्य, द्यूत क्रीड़ा तथा विभिन्न प्रकार के जादूटोने की प्रथा भी राजसूय यज्ञ से संलग्न थीं।

एकादश से अष्टादश अध्याय तक के विभिन्न स्तोत्र तथा यज्ञीय सूत्र हैं जो अग्नि चयन (वेदिका निर्माण से सम्बन्धित हैं, यह कृत्य पूरे वर्ष में पूर्ण

होता था। ब्राह्मण ग्रन्थों में इसका महान् रहस्यपूर्ण तथा प्रतीकात्मक महत्व बताया है। वेदी को अग्नि का स्वरूप माना है। यह एक पंख फैलाये हुये पक्षी के आकार की १०८०० ईंटों की बनाई जाती थी। वेदी के सबसे नीचे के भाग में ५ यज्ञीय पशुओं के सिर गाड़े जाते हैं और उनके शरीर उस तालाब में फेंक दिये जाते हैं जिससे ईंटें तथा हवन कुण्ड बनाने के लिए मिट्टी ली जाती है। यज्ञकुण्ड तथा ईंटों का निर्माण और उन्हें बनाना बड़ी सावधानी तथा उत्सव के साथ होता है और इस बीच में विस्तार स्तोत्र तथा मन्त्रों का पाठ भी होता जाता है। इन ईंटों में कुछ के विशेष नाम तथा प्रतीकात्मक महत्व भी हैं। यहां तक सभी मन्त्र और प्रार्थनायें कृष्ण यजुर्वेद की संहिताओं में भी इसी रूप में अत्यल्प भेद के साथ मिलती हैं। कृष्ण यजुर्वेद में भी इस अंश में ब्राह्मण भाग मिश्रित नहीं किया गया। इस अंश के ब्राह्मण को अगले अध्यायों में पृथक् रूप से दिया गया है।

१६ से २१ तक ३ अध्यायों मे सौत्रा मणि यज्ञ के स्तोत्र हैं। इस यज्ञ में भी सोमपान के स्थान सुरापान का विधान मिलता है और सुरा अश्विनी कुमार, इन्द्र तथा सरस्वती को प्रदान की जाती है। यह यज्ञ निम्न प्रकार के व्यक्तियों के लिए विशेष रूप से विधेय है—

१—जिन्होंने अत्यधिक सोमपान किया है और जिससे उनका चित्त ऊब गया है।

(२) सोमपान जिसकी प्रकृति के प्रतिकूल है।

सम्भवत: उक्त दो ही सौत्रामणि यज्ञ के उद्देश्य है। किन्तु कतिपय अन्य उद्देश्यों से भी उक्त यज्ञ का विधान देखा जाता है, जैसे—

(३) ऐसे ब्राह्मण के लिये जो सफलता के लिए कामना करता है—

(४) उस निर्वासित राजा के लिये जो अपना राज्य पुनः प्राप्त करता है।

(५) उस वैश्य के लिए जो धन प्राप्त करना चाहता है।

इसके अतिरिक्त सोत्रामणि यज्ञ से सम्बन्धित कई स्तोत्र इन्द्र विषयक एक कथा का प्रतिपादन करते हैं कि इन्द्र अत्यधिक सोमपान से उन्मत्त होकर प्रमाद युक्त हो गया था और फिर अश्विनी कुमार तथा सरस्वती ने सुरा से उसे ठीक किया था।

अन्त में २२ से २५ अध्यायों में महान् अश्वमेध विषयक स्तोत्र और मन्त्र हैं। रामायण, महाभारत तथा पुराणों में उन प्राचीन राजाओं का वर्णन है, जिन्होंने उस यज्ञ का सम्पादन किया था। अश्वमेध यज्ञ को राजा की कीर्ति का सर्वोच्च चिन्ह समझा जाता था। अश्वमेध यज्ञ के वर्णन के साथ साथ ही प्राचीन वाजसनेयि संहिता की समाप्ति होती है। अश्वमेघ यज्ञ का सम्बन्ध राजा से होने पर भी, २२ वें अध्याय के २२ वें मन्त्र में जो प्रार्थना की गई है, उसका उद्देश्य राजा से न होकर सभी प्रजा की हित कामना से है।१

अन्तिम १५ अध्याय तो 'खिल' अर्थात् परिशिष्ट ही हैं। २६ से २६ तक के ४ अध्याय केवल पूर्ववर्ती अध्यायों के परिशिष्ट के रूप में है। ३० वें अध्याय का भी परिशिष्ट होना इस तथ्य से स्पष्ट है कि इसमे कोई भो स्तोत्र या मन्त्र नहीं, बल्कि केवल पुरुष मेध यज्ञ के अवसर पर बलिदान किये जाने वाले व्यक्तियों की सूची दी गई है। यह यज्ञ विभिन्न देवताओं तथा क्षण मात्र के लिये देवत्व की कोटि को प्राप्त शक्तियों या वस्तुओं के लिये सम्पादित किया जाता था। १८४ व्यक्तियों का इन शक्तियों के लिये बलिदान निर्दिष्ट किया गया है। उदाहरण के लिये, पुरुषमेघ के अन्तर्गत पुरोहित के लिए ब्राह्मण का, राजन्य देवता के लिए क्षत्रियका, मरुतों के लिये वैश्य का, तप के लिये शूद्र का, अन्धकार के लिये चोर का, नरक के लिए हत्यारे का, पाप के लिये नपुंसक का, काम के लिये पुंश्चली स्त्री का,

१—आ ब्रह्मन् ब्राह्मणो ब्रह्मवर्चसी जायतामा राष्ट्रे राजन्यः······ युवास्य यजमानस्य वीरो जायतां निकामे निकामे नः पर्जन्यो वर्षतु फलवत्यो न ऽ ओषधयः पच्यन्तां योग क्षेमो नः कल्पताम् २२।२२

कोलाहल के लिये गायक का, नृत्य के लिये भाट का, गान के लिये अभिनेता का, मृत्यु के लिये शिकारी का, जुए के लिए द्यूतकार का, निद्रा के लिए अन्ध पुरुष का, अन्याय के लिये बधिर का, यज्ञ के लिये धोबिन का, इच्छा के लिये रंगरेज पत्नी का, यम के लिए बन्ध्या स्त्री का, उत्सव की प्रसन्नता के लिए वंशीवाले का, क्रन्दन के लिये वीणा बजाने वाले का, पृथ्वी के लिए पङ्गु का और स्वर्ग के लिये गंजे व्यक्ति का बलिदान करने का संकेत है।

पाश्चात्य समालोचक विन्टर निट्ज का उक्त यज्ञ के सम्बन्ध में विचार है कि यह सोचना असम्भव है कि इतने प्रकार के लोगों को बलिदान करने के लिये वस्तुतः एक जगह लाया जाता होगा। इस सम्बन्ध में विन्टर निट्ज सांकेतिक अर्थ ग्रहण करते हैं। सांकेतिक अर्थ के आधार पर इस विद्वान् का विचार है कि उपर्युक्त विविध पुरुषों की गुड़िया बनाकर या केवल नाम से ही उन्हें अग्नि में अर्पित किया जाता था। ओल्डनवर्ग का भी यही मत है। ये उपर्युक्त यज्ञ विधान को पुरोहितों (Priests) द्वारा किया हुआ आविष्कार मानते हैं। (Religion Desveda) के अन्तर्गत ओल्डनवर्ग ने लिखा है।

There can be no doubt that the ritual is a mere priestly intention to fill up the apparent gap in the sacrificial system provided no place formerly.

३१ वें अध्याय से इस तथ्य की और भी पुष्टि हो जाती है, जहां ऋग्वेद का पुरुष सूक्त किञ्चित् परिवर्तित रूप में मिलता है। इस सूक्त के अन्तर्गत पुरुष को संसार का सर्वोच्च तत्त्व मानकर संसार की उत्पत्ति पुरुष के यज्ञीय पशु के रूप में बलिदान से बतलाई गई है।

'पुरुष एवेदं सर्वं यद् भूतं यच्च भव्यम्, कहकर संसार को पुरुष रूप बतलाया गया है। पुरुषमेध के अवसर पर ब्रह्मा के द्वारा इस सूक्त का पाठ किया जाना आवश्यक बतलाया गया है और इसे (पुरुषमेध सूक्त का)

उपनिषद् का रहस्य पूर्ण सिद्धान्त कहा गया है ।

३२ वां अध्याय भी विषय तथा के स्वरूप की दृष्टि से उपनिषद् का ही रूप है । इसमें प्रजापति को पुरुष तथा ब्रह्म रूप माना गया है ।

३२ से ३४ अध्याय तक मन्त्र के सर्वमेध यज्ञ के लिये हैं । यह सर्वोच्च यज्ञ है, जिसका अस्तित्व क्रियात्मक था । इसमे यजमान अपनी समस्त सम्पत्ति दक्षिणा रूप में ब्राह्मणों को देकर वन में अपने शेष दिन बिताने के लिये चला जाता है । ३४ वें अध्याय की प्रथम ६ ऋचाऐं शिवसंकल्पोपनिषद् के नाम से अभिहित होती हैं ।

३५ वें अध्याय के कुछ मन्त्र अन्त्येष्टि क्रिया से सम्बन्धित है, जो प्रायः सभी ऋग्वेद से लिये गए है ।

३६ से ३९ तक चार अध्यायों में 'प्रवर्ग्य' नामक कृत्य से सम्बन्धित मन्त्र हैं । इस कृत्य में एक बड़े कड़ाहे को यज्ञीय अग्नि पर प्रतप्त किया जाता है । इसे सूर्य का प्रतिरूप समझा जाता है । फिर इस पात्र में दूध उबाल कर अश्विनी कुमारों को समर्पित किया जाता है । यह सम्पूर्ण कृत्य बड़ा रहस्यमय माना जाता है । अन्त में पात्र आदि इस प्रकार विन्यस्त किये जाते हैं कि उनसे एक मनुष्य की आकृति बन जाती है । दुग्ध पात्र शिर का प्रतीक है, दूध दुहने के दो पात्र कान, कुशाओं का स्तवक बाल, दो छोटी स्वर्ण पत्तियां आंखें, दो चषक एड़ियां, सम्पूर्ण आकृति में विकीर्ण आटा-मज्जा और दुग्ध मधु का मिश्रण रक्त का प्रतीक है । स्तोत्र और मन्त्र ऐसे रहस्यमय कृत्य के लिये उपयुक्त हैं, क्योंकि वे भी रहस्यात्मक और अस्पष्ट हैं ।

४० वां अध्याय ईशोपनिषद् है । ईशोपानिषद् उपनिषदों में सर्वाधिक प्राचीन उपनिषद् है, क्योंकि अन्य कोई उपनिषद् संहिता के साथ जुड़ा प्रतीत नहीं होता ।

यजुर्वेद संहिता के स्तोत्रों तथा मन्त्रों का स्वरूप

यजुर्वेद के स्तोत्र तथा मन्त्र आंशिक रूप से ऋचाओं तथा आंशिक रूप से गद्य वाक्यों से निर्मित है। यह गद्य ही यजुष् कहलाता है। यजुष् के ही आधार पर यजुर्वेदका नाम निर्भर है। स्तोत्रों के गद्य में आनुषङ्गिक लय है जो उसे काव्यत्व के स्तर पर भी पहुँचाती है' इस सम्बन्ध में विन्टर तिट्ज का कथन उद्धरणीय है—

The prose of these prayers is occasionally rhythmical and here and there even rises to poetical flight.

यजुर्वेद की भाषा का ऋग्वेद की भाषा से अधिक भेद नहीं है, यद्यपि परिवर्तन के कुछ चिह्न अवश्य दिखाई देते हैं। यजुर्वेद मे पाई जाने वाली ऋग्वेद ऋचाओं में कुछ पाठान्तर भी प्राप्त होते है, जो निश्चय ही ऋग्वेद की ऋचाओं को यजुर्वेदके यज्ञीय कृत्यों के अनुकूल बनाने के लिये जान बूझकर किये गये हैं। इन्हें अधिक प्राचीन पाठ समझना भूल है। ऋग्वेद का सम्पूर्ण सूक्त यजुर्वेद में बहुत कम उद्धृत किया गया है। बहुधा ये पृथक्-पृथक् ऋचायें ही है, जो अपने प्रसङ्ग से हटाकर यजुर्वेद मे केवल इस लिये संकलित कर दी गई कि वे किसी यज्ञीय कृत्य के लिये विशेष उपयुक्त प्रतीत होती थीं। अतः यजुर्वेद का महत्त्वपूर्ण भाग उसके मौलिक गद्य सूत्र एव स्तोत्र है।

प्रार्थना मन्त्र

सर्वाधिक सरल प्रार्थना मन्त्र या स्तोत्र वे है, जिनमें केवल देवता के नाम के उच्चारण के साथ ही आहुति को अग्नि में डाल दिया जाता है। ऐसे मन्त्र यजुर्वेद में अधिक हैं। इस प्रकार के मन्त्रों में 'इदमग्नये, इदमिन्द्राय' था अग्नये स्वाहा एवं इन्द्राय स्वाहा आदि मन्त्र हैं। एक देवता के प्रति इससे सरलतर स्तुति की कल्पना नहीं की जा सकती कि एक लघु वाक्य से गृहस्थ दुग्ध की हवि देकर दैनिक अग्नि होत्र का सम्पादन करता था। उदाहरण

के लिये 'अग्नि ज्योतिः ज्योतिरग्निः' के द्वारा सायंकाल के समय प्रार्थना की जाती थी और सूर्यो ज्योतिः, ज्योतिः सूर्यः, कहकर प्रातः काल के समय प्रार्थना की जाती थी। इसी प्रकार अल्प शब्दों में छोटे-छोटे यज्ञीय कृत्यों का उद्देश्य भी प्रायः सूचित किया जाता है। उदाहरण के लिये एक शाखा को तोड़ता हुआ और बछड़ों को भगाता हुआ पुरोहित कहता है—

रसाये त्वा, शक्तये त्वा

अर्थात् यह तुम्हारी रस वृद्धि के लिये है, यह तुम्हारी शक्ति वृद्धि के लिये है। बहुधा किसी यज्ञ में किसी उपकरण से कोई कार्य करते हुए उसका नाम लेकर उससे कोई कामना प्रकट की जाती है। उदाहरण के लिये अग्नि में समिधा रखते हुये समिधा के प्रति कहा जाता है कि 'तुझे अग्नि ने प्रज्वलित किया है, तुझ मे अग्नि की ज्योति समा जाये और समाकर हमें भी प्रज्वलित कर दे, प्रत्युज्जीवित कर दे।' इसी प्रकार जब किसी उपकरण से अनिष्ट की सम्भावना होती है तो उस अनिष्ट को दूर करने के लिये छोटी सी प्रार्थना पर्याप्त समझी जाती है जैसे कि मेध्यपशु जब बांधकर यज्ञ-यूप से बांधा जाता है तो उससे कहा जाता है कि तुम सर्प न बन जाना। दाढ़ी बनाने वाले उस्तरे के प्रति कहा जाता है कि तू कोई घाव न कर देना। इसी प्रकार यजमान पृथ्वी की ओर देखता हुआ कहता है :—

पृथिवि मातर्मा माहिंसीर्माहं त्वां

अर्थात् हे पथिवि मातः, मुझे कष्ट मत पहुंचाना, मैं भी तुझे कष्ट नहीं पहुँचाऊँगा,।१ इन छोटी-छोटी प्रार्थनाओं में बड़ी सरसता एवं सुन्दरता निहित रहती है। उदाहरण के लिए अग्नि की प्रार्थना करते कहा जा-रहा है—

भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः।
स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवांसस्तनूभिः, व्यशेम देव हितं यदायुः॥

१. देखिए वा० सं० ४।१; ६।१२; २।१४; १।१; ३।६, १०।२३

इसके अतिरिक्त यजुर्वेद के यज्ञपरक मन्त्रों के अन्तर्गत देवताओं का सम्बन्ध सन्दर्भानुकूल किसी पात्र, वस्तु एवं कर्म से भी जोड़ा गया है। उदाहरण के लिए पुरोहित यजमान की पत्नी को रस्सी से बांधते हुए कहता है तू रस्सी नहीं, अदिति की मेखला है। सोमयाग के अवसर पर यजमान अपने आपको मूंज तथा सन की मेखला से बांधते हुये कहता है—

अर्ज्जस्याङ्गिरस्यूर्यमृदाऽ अर्ज्जं मयि धेहि (तू अङ्गि रस की शक्ति है, तू ऊन की तरह कोमल है, तेरी यह मृदुता मुझे बल दे)।

तत्पश्चात् कौपीन में ग्रन्थि लगाता हुआ यजमान कहता है—

'सोमस्यनीतिरसि' (तू सोम की ग्रन्थि है) इसी स्थल पर यजमान उष्णीष से अपना सिर ढकता हुआ कहता है—'विष्णोः शर्म्मोसि शर्मे यजमानस्य' (तू विष्णु का रक्षक है, यजमान का रक्षक है) साथ ही एक कृष्ण मृग को अपने वस्त्र के घेर में लपेटते हुये कहता है—

तुम इन्द्र की योनि हो 'इन्द्रस्ययोनिरसि' इसके अतिरिक्त जब भी पुरोहित कोई वस्तु उठाता है तो यही कहता है कि सविता की प्रेरणा से मैं अश्विन् और पूषन् के बाहुओं से इसे उठाता हूँ 'देवस्य त्वां सवितुः प्रसवेऽश्विनोः बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्यां आददे'। यजुर्वेद में एक स्थल पर अग्नि समिन्धन के समय अग्नियों में माता पिता को कल्पना की गई है। इस स्थल पर इन अरणियों को पुरुरवा और उर्वशी दो प्रेमियों के रूप में स्मरण किया गया है। इन अरणियों का घर्षण करते हुये ऋत्विक् कहता है—तू अग्नि की योनि है, तू आयु की योनि है, कुश की दो पत्तियां ऊपर रखते हुए फिर उन पत्तियों को पुरुष के वीर्योत्पादक अंगों के नाम से स्मरण करते हुए, लकड़ी का एक छोटा सा टुकड़ा बिछाते हुए कहता है—तू उर्वशी है। घृतपात्र को यज्ञकुण्ड पर रखते हुए लकड़ी से उसे हिलाता जाता है और कहता जाता है—तू आयु है, तू आयु है। दोनों लकड़ियों को एक साथ मिला कर ऊपर वाली लकड़ी से कहता है—तू पुरुरवा है, फिर दोनों लकड़ियों को रगड़ता है और कहता है मैं तुझे त्रिष्टुप द्वारा उद्दीप्त करता हूँ, गायत्री द्वारा

उद्दीप्त करता हूँ, जगती द्वारा उद्दीप्त कर रहा हूँ।[1]

यहीं एक स्थल पर अनेक परस्पर असंबद्ध वस्तुओं को एकत्र करके वेदी में स्थापित करते समय अग्नि से कहता है—

सुपर्णोऽसि गरुत्मान् त्रिवृत् ते शिरो गायत्रं चक्षुः बृहद्रथन्तरे पक्षौ। स्तोत्र आत्मा। छन्दा स्यंगानि। नाम साम ते तनूः।……गच्छस्व।[2] (तू ही सुपर्ण पक्षी है। त्रिवृत स्तोत्र तेरा शिर है। गायत्र छन्द तेरा चक्षु है। बृहत् और रथन्तर तेरे पंख हैं। स्तुति तेरी आत्मा है। विभिन्न वृत्त (छन्द) तेरे अंग हैं। याजुष्य मन्त्र तेरा नाम है। वाम देव्य गीत तेरा शरीर है। यज्ञा यज्ञिय गीत तेरी पूंछ है। ये अंगीठियाँ तेरे क्षुर हैं। तू सुपर्ण है, तू स्वर्ग की ओर उड़ जा।

इस प्रकार के विविध मन्त्रों के सम्बन्ध में डा० विण्टर निट्ज की धारणा है कि ये मन्त्र असङ्गत एवं असंबद्ध है। उनका कहना है कि ब्राह्मणों ने जनता के ऊपर अपना हाथ बनाये रखने के लिए कितने ही असंख्य ऐन्द्रजालिक जैसे मन्त्रों की रचना की थी। इसी तरह उपर्युक्त प्रकार के मन्त्रों के सम्बन्ध में श्रोडर (Schroeder) महोदय को भी इसमें सन्देह हो गया था[3] कि ये वाक्य किसी बुद्धिमान् व्यक्ति की रचनाएं हैं। श्रोडर महोदय का कहना है कि प्रायः एक ही विचार के आधार पर या कुछ हेर फेर के साथ हतबुद्धि मूर्ख की तरह पुरोहित उन्हीं शब्दों मे एक ही विचार की पुनरावृत्ति करता चलता है। इतना ही नहीं श्रोडर ने इन मन्त्रों की तुलना

---

१. वा० स० ५।२

२. वा० सं० १२।४

3. We may indeed often doubt whether these are the productions of intelligent people, these have monotonous variations of one and the same idea are particularly characteristic of the writing of persons in the state of imbecility. विन्टर निट्ज के हिस्ट्री आफ इण्डियन लिट्रेचर भाग प्र० से उद्धृत।

मनोवैज्ञानिक चिकित्सालयों के उन्मत्त व्यक्तियों की बातों से भी की है।

मेरे विचार से विन्टर निट्ज और श्रोडर दोनों ही समालोचक सहृदयता की सीमा का अतिक्रमण कर गये प्रतीत होते हैं, क्योंकि हमें यह न भूल जाना चाहिये कि ये मन्त्र उन चतुर पुरोहितों की याज्ञिक रचनाएँ हैं, जिन्होंने स्वयं यज्ञीय कृत्यों को अत्यन्त सूक्ष्म एव असंख्य बना दिया था। प्रत्येक कृत्य को उन्हें मन्त्र पाठ के साथ सम्पन्न करना था। इस प्रकार इन मन्त्रों में अर्थसङ्गति का ध्यान रखना सम्भव न था। इसके अतिरिक्त मन्त्रादि ऐसे होने चाहिए थे जो सामान्य पदों से भिन्न एक विशिष्ट यज्ञीय प्रकृति से युक्त होते। अत इसमें किसी विशेष काव्य सौन्दर्य या अर्थ गाम्भीर्य की आशा नहीं करनी चाहिए।

यजुर्वेद के कुछ प्रार्थना मन्त्र गद्य में बने हुए ऐन्द्रजालिक मन्त्र मात्र हैं और कहीं-कही तो अभिचार तथा अभिशाप (ठीक अथर्ववेद की तरह प्रार्थनाओं के मध्य में मिल जाते हैं, क्योंकि कुछ यज्ञीय कृत्य ऐसे भी हैं जिनके द्वारा शत्रुओं को हानि पहुंचाई जा सकती है। उदाहरण के लिए निम्नलिखित मन्त्र उद्धृत किया जा सकता है—

'धूरसि धूर्व धूर्वन्तम्, धूर्व तं योऽस्मान् धूर्वति तं धूर्व य वयं धूर्वामः।[1] अर्थात् तू रथ का जुआ है, तू हमारे शत्रुओं को हानि पहुंचा। जो हमें हानि पहुंचाता है, उसे हानि पहुंचा।

ब्रह्मोद्य

जिस प्रकार कि अभिचार मन्त्रों में कुछ आदिम अवस्था तथा जन प्रियता का स्पर्श है उसी प्रकार यजुर्वेद में अधिकता पाई जाने वाली विशिष्ट प्रकार की प्रहेलिकायें (ब्रह्मोद्य) जो प्राय: पुरोहितों के बीच मे प्रश्नोत्तर अथवा वार्तालाप के रूप में हैं। उनमे से कुछ तो यथार्थ ही ब्रह्मोद्य हैं। उनके लिए यह पारिभाषिक शब्द उपयुक्त है, क्योंकि वे ब्रह्म या पवित्र (यज्ञीय)

---

१. वा० सं० १।८

ज्ञान पर आधारित हैं। अतः उनका उत्तर भी इसी प्रकार के ज्ञान पर आधारित होगा। इनमें कुछ प्राचीन लोक गत प्रहेलिकाएं हैं। इस प्राचीन साहित्यिक प्रकार से हम ऋग्वेद तथा अथर्ववेद में परिचित हो चुके हैं। यजुर्वेद में भी कुछ अवसरों पर प्रहेलिका क्रीड़ा कृत्य का एक प्रमुख अंग थी। उदाहरण के लिये वाजसनेयि संहिता के २३ वें तथा तैत्तिरीय संहिता के ७ वें अध्याय में ऐसी अनेक प्रहेलिकायें प्राप्त होती हैं जिनसे पुरोहित यज्ञ के अवसर पर मनोरञ्जन किया करते थे। इन प्रहेलिकाओं में कतिपय ब्राह्मण ग्रन्थों की यज्ञीय रहस्यात्मकता तथा उपनिषदों की दार्शनिकता से सम्बन्धित है किन्तु कुछ बहुत ही लोकगत तथा सामान्य ज्ञान पर आधारित हैं। इस सम्बन्ध मे यहां कतिपय प्रहेलिकाओ को उद्धृत करना समीचीन होगा।

होता—कः स्विदेकाकी चरति क उ स्विज्जायते पुनः।

किं स्विद्धिमस्य भेषज किम्वावपनं महत्॥[1]

(यह कौन है जो एकाकी चला जा रहा है? कौन प्रकाश को पाता है? हिम (सर्दी जुकाम) की औषधि क्या है (बीज बोने का महान् क्षेत्र क्या है?)

अध्वर्यु

उपर्युक्त पहेली का अध्वर्यु उत्तर देता है—

सूर्य ऽ एकाकी चरति चन्द्रमा जायते पुनः।

अग्निर्हिमस्य भेषजं भूमिरावपनं महत्॥[2]

(सूर्य रूपी ब्रह्म एकाकी विचरण करते है, चन्द्रमा पुनः प्रकाश को प्राप्त करते हैं। हिम की औषधि अग्नि है। बीज बोने का महान् क्षेत्र यह पृथिवी है।)

अध्वर्यु—किं स्वित् सूर्य समंज्योतिः द्यौः समुद्र समं सरः।[3]

---

१. वा० सं० २३।९

२. वा० सं० २३।१०

३. वा० सं० २३।४७

इन्द्रः पृथिव्यै वर्षीयान् कस्य मात्रा न विद्यते ।

(सूर्य के समान कौन सी ज्योति है ? समुद्र के समान कौन सा सरोवर है ? पृथिवी से बढ़कर क्या है ? कौन सी ऐसी वस्तु है, जिसका परिमाण नहीं होता है ?)

ब्रह्म सूर्य समं ज्योतिर्द्यौः समुद्रसमं सरः ।
इन्द्रः पृथिव्यै वर्षीयान् गोस्तु मात्रा न विद्यते[2]

(ब्रह्म सूर्यात्मक ज्योति है । स्वर्ग समुद्र के समान सरोवर है । इन्द्र पृथिवी से अधिक महिमा वाले है । वाणी का परिमाण नहीं है ।

प्रार्थनाओं तथा मन्त्रों की तरह यह प्रहेलिकाएं भी देवताओं की पूजा का महत्त्वपूर्ण अंग थीं । वैसे, पूजा से इनका प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं था । इनका उद्देश्य देवताओं को प्रभावित करना तथा इन्हें यजमान की इच्छापूर्ति के लिए बाध्य करना है । देवता भी केवल भोजन ही न चाह कर मनोरञ्जन की भी अभिलाषा रखते हैं ।

नामावलि द्वारा देव स्तुति की पद्धति

यजुर्वेद में इन सबके अतिरिक्त देवताओं को प्रभावित करने की एक अन्य नवीन रीति भी अपनाई गई है, जिसने परवर्ती युग में अत्यन्त महत्व-पूर्णरूप धारण कर लिया था । यह नवीन रीति किसी विशिष्ट देवता के अधिकाधिक विशेषणों तथा नामों की गणना करके उनके द्वारा उस देवता की स्तुति करना है । ये विशेषण एवं नाम उस देवता की विभिन्न शक्तियों तथा विशेषताओं के सूचक होते हैं । परवर्ती साहित्य में विष्णु, शिवादि देवताओं के सहस्त्र नाम मिलते हैं, जिनका पाठ विशेष धार्मिक उत्सवों के अवसर पर अनेक सिद्धियों का देने वाला तथा पुण्य शाली समझा जाता है । उदाहरण के लिए शिवत्रयोदशी के उत्सव पर शिवसहस्त्र नाम एवं दीपावली के उत्सव पर रात्रि में गोपाल सहस्त्र नाम का पाठ किया जाता है । यही

२. वा० सं० १३।४८

यहीं शक्ति साहित्य में भी ललिता सहस्त्र नाम एवं ककारादि सहस्त्र नाम आदि अनेक सहस्त्र नाम मिलते हैं। यजुर्वेद में नामावली की इस रीति का प्रयोग रुद्र की स्तुति के सम्बन्ध में किया गया है।[1] इस स्थल को शत रुद्रीय कहते हैं।

नामावली परिगणन की उक्त रीति के दो कारण कहे जा सकते हैं— एक तो स्तोता की तीव्र भावना की अभिव्यक्ति और दूसरा देवता के किसी न किसी विशेषण या नाम का पुरोहित से सम्बन्ध स्थापित करना, जैसाकि विन्टर निट्ज महोदय मानते हैं।

अन्त में, एक विशिष्ट प्रकार की सूत्रात्मक प्रार्थना के दर्शन होते हैं। प्रार्थना के इस स्वरूप ने आगे चलकर बड़ा प्रभावक रूपधारण किया था। ये सूत्र प्राय: एक शब्द या एक वर्ग के रूप में हैं। इस प्रकार के मन्त्रों का यज्ञ के कृत्यों मे विशेष अवसरों पर बड़ी गम्भीरता और सावधानी से उच्चारण किया जाता है। इन मन्त्रों को अधिक शक्ति सम्पन्न एव पवित्र माना जाता है। इसमें सर्व प्रथम अग्नि में देवों के लिए आहुति देते हुए उच्चार्यमाण शब्द 'स्वाहा' है। स्वधा शब्द पितरों को हव्य देते समय प्रोच्चारित किया जाता है। इसी प्रकार की अनेक ध्वनियाँ वषट्, वेट् एव वाट् आदि हैं। किन्तु इन सबमें निश्चित रूप से सर्वाधिक महत्त्व पूर्ण वर्ण 'ॐ' है। यह वर्ण मूलतया केवल स्वीकरोक्ति का सूचक कहा है। ऐतरेय ब्राह्मण के अनुसार 'ॐ' का देवों की भाषा में वही अर्थ है जो मनुष्यों की भाषा में 'तथास्तु' का। छान्दोग्योपनिषद् के अनुसार 'ॐ' शब्द स्वीकारात्मक है। भारतीय ॐ शब्द को सहस्त्रों वर्षो में लेकर आजतक रहस्यपूर्ण एवं अत्यन्त पवित्र मानते हैं।कठोपनिषद् के अन्तर्गत 'ॐ' को साक्षात् ब्रह्म का ही रूप बतलाया गया है—

एतद्धयेवाक्षरं ब्रह्म एतद्धयेवाक्षारं परम्।
एतद्धयेवाक्षरं ज्ञात्वा यो यदिच्छति तस्य वत्॥

(कठोपनिषद्)

---

१. देखिए यजुर्वेद १६ वां अध्याय तथा तै० सं० ४, ५ अध्याय

मैत्राणी संहिता के अनुसार तो ॐ में ही त्रिलोकी समाविष्ट है। यही अक्षर ब्रह्म है; यही सत्य है और यही ऋत है, क्योंकि इसके बिना कोई यज्ञ सम्भव नहीं। मुमुक्षुसंन्यासी के लिये ॐ (प्रणव) का जपनितान्त सिद्धिप्रदान करने वाला बतलाया गया है।

वषट् आदि इस प्रकार के शब्दों के सम्बन्ध में डा० विन्टर निट्ज आदि पाश्चात्य विद्वानों का मत है कि इन शब्दों का अर्थ अस्पष्ट ही है। इसी प्रकार अं, आं, ऊं, एं, ओं, हुट एवं अथ आदि शब्दों के सम्बन्ध में विन्टर निट्ज का विचार है कि इन शब्दों की रहस्यात्मकता बुद्धिगम्य न होकर अन्ध विश्वास की ही वस्तु अधिक है। विन्टर निट्ज महोदय की धारणा में औचित्य नहीं प्रतीत होता। इन मन्त्रों एवं एकाक्षर शब्दों का सम्बन्ध भारतीय साधना पक्ष से है, जिसके अन्तर्गत एक-एक अक्षर वाले मन्त्र का अत्यन्त सारपूर्ण रहस्य है। भारतीय तन्त्र शास्त्र के अन्तर्गत इस प्रकार के एकाक्षर मन्त्रों का अत्यधिक महत्व है। साथ ही तन्त्र शास्त्र के प्रामाणिक ग्रन्थों में इस विषय को गुह्याति गुह्य भी कहा गया है। अतः इस प्रकार के मन्त्रों का अर्थ समझने के लिए पहिले जिज्ञासु को तन्त्र शास्त्र के नियम के अनुसार साधक बना चाहिए और फिर उपर्युक्त मन्त्रों के सार को समझाने का प्रयत्न करना चाहिए। अन्यथा वैसा ही परिणाम होगा, जैसाकि अनधिकारी वाममार्गियों का बाह्य पञ्चमकार मांस, मदिरा, मैथुन, मुद्रा, मलरूप के प्रयोग से हुआ करता है। अतः विन्टर निट्ज महोदय के साधना पक्ष में शून्य होने के कारण, उनके द्वारा की गई उपर्युक्त आलोचना कुछ आश्चर्यजनक नहीं प्रतीत होती है।

यजुर्वेद का धर्म

पौराणिकता की दृष्टि से यजुर्वेद तथा ऋग्वेद के धर्म में कोई मौलिक अन्तर न.. कहा जा सकता, क्योंकि दोनों का देव समूह लगभग वही है। परन्तु फिर भी दोनों संहिता के देवताओं की प्रकृति में कुछ अन्तर अवश्य

आ गया है। प्रजापति, जिसकी अस्पष्ट छायामात्र ऋग्वेद के अन्तिम सूक्तों में है, ऋग्वेद में उत्तरोत्तर महत्त्व प्राप्त करता गया है और देवताओं मे सर्वोत्कृष्ट स्थान प्राप्त करने लगा है। ऋग्वेद के रूप यजुर्वेद मे शिव के रूप में वर्णित हुए हैं और इनके साथ शंकर और महा देव जैसे कुछ परवर्ती विशेषण भी जोड़े गये हैं। विष्णु का स्थान भी अभिवृद्ध हुआ है और उसका कई स्थलों पर तादात्म्य किया गया है। राक्षसों को सदा असुर कहा गया है। वे दोषों एवं पापों के समूह बतलाए गये हैं। देवासुर संग्राम से सम्बन्धित अनेक कथायें यजुर्वेद की पौराणिकता के अन्तर्गत पाई जाती हैं। अप्सरायें, जो यजुर्वेद मे अत्यन्त सुन्दर और मनमोहिनी देवरमणियों के रूप में आती है, ऋग्वेद में अत्यल्प रूप से ही उल्लिखित है। यजुर्वेद में इन अप्सराओं का स्थान महत्त्व पूर्ण है।

यजुर्वेद की धार्मिक विचारधारा में भी परिवर्तन दिखाई पड़ता है। यजुर्वेद के अन्तर्गत कतिपय नवीन धार्मिक कृत्यों की योजना भी की गई प्रतीत होती है। उदाहरण के लिए, 'ब्रह्म' जो ऋग्वेद में श्रद्धा या स्तोत्र का वाचक था, यजुर्वेद में स्तोत्र का विषय ही बन गया। इसी भाव का चरम विकास उपनिषदों में जाकर हुआ। ऋग्वेद मे सूर्य पूजा का सङ्केत भी नहीं है, किन्तु यजुर्वेद में आकर यह पूजा भारतीय धर्म का अङ्ग ही बन गई। सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण अन्तर देवपूजा के स्वरूप में दृष्टिगोचर होता है। ऋग्वेद में भक्ति का विषय देवता था; मनुष्यों को सम्पत्ति देना पूर्णरूप से देवताओं के हाथ में था। यज्ञ देवताओं की कृपा प्राप्ति का साधन था। परन्तु यजुर्वेद यज्ञ स्वत: विचारों तथा अभिलाषाओं का केन्द्र बन गया है। इन यज्ञों के प्रत्येक सूक्ष्म कृत्य को औचित्य पूर्ण विधि एवं नियम पूर्वक सम्पन्न करना ही सब कुछ समझा जाता है। यज्ञ के द्वारा पुरोहित यजमान की दु:साध्य से दु:साध्य अभिलाषा की पूर्ति देवता के द्वारा करवाता था। मैक्डोनल ने यजुर्वेद के धर्म को एक प्रकार का यान्त्रिक पुरोहितवाद कहा है। इस धर्म में पुरोहित अनेक कृत्यों का जटिल विधान करते हैं; जिनका प्रतीकात्मक महत्त्व है और जिसमें छोटे से छोटे कृत्य का अत्यधिक महत्त्व माना गया है। मैक्डोनल लिखते हैं—

In this stifling atmosphere of perpetual sacrifice and ritual, the truely religious spirit of Rigveda could not survive. Adoration to the poor and beneficence of the gods as well as the consciousness of the guilt, is entirely lacking in every prayer complied with some particular rite and aiming solely at securing material advantage.

यजुर्वेद के मन्त्र अथवा स्तोत्र शब्दों एव भावों की पुनरावृत्ति एवं कभी-कभी रहस्य पूर्ण अव्ययों से पूर्ण हैं। इस सम्बन्ध में मैत्रायणी संहिता का निम्न उद्धरण उपयुक्त है—

'निधायो वा निधायो वा ओम् वा ओम् वा ओम् वा एऐ ओम् स्वर्ण ज्योतिः'।

जैसा कि पीछे भी कहा जा चुका है, पश्चिमी समालोचकों ने इन मन्त्रों के शब्दार्थों को प्रायः अबोध्य ही कहा है। इस प्रकार यज्ञीयकृत्य शनैः शनैः अधिकाधिक रहस्यपूर्ण बनते गए। यज्ञ एवं उसके मन्त्रों को प्रकृति की नियामक एवं अन्य दैवी शक्ति से युक्त माना जाने लगा। यजुर्वेद में ऐसे अनेक मन्त्र एवं प्रार्थनाऐं हैं, जिनसे शत्रु पर विजय प्राप्त की जा सकती है, जल वृष्टि कराई जा सकती है। इस प्रकार किसी कार्य के लिये प्राकृतिक शक्तियों को प्रभावित करने के कारण इन मन्त्रों का स्वरूप ऐन्द्रजालिक सा हो गया है। यजुर्वेद की प्रार्थनाओं के अन्त में बहुधा उस कृत्य के करने से उत्पन्न प्रभाव का भी उल्लेख किया गया है, जिसमें हर प्रकार के भौतिक लाभों, जैसे पशु लाभ आदि का भी उल्लेख है। कुछ कृत्यों में तो बड़ी विचित्र वस्तुओं की प्राप्ति का वर्णन है, जैसे वर्ष (जो सम्भवतः आयुर्वृद्धि का सूचक है), जिसकी व्यावहारिक उपयोगिता के विषय में मैक्डोनल ने लिखा है—

Formulas to secure possession of moon would have had equal practical value.

यजुर्वेद की सामाजिक स्थिति

ऋग्वेद की अपेक्षा यजुर्वेद में कुछ सामाजिक भिन्नता दिखाई पड़ती है। भारतीय विकास के साथ जातियों का वर्गीकरण भी बढ़ गया था। न केवल

चातुर्वर्ण्य व्यवस्था ही उस समय तक स्थापित हो चुकी थी, वरन् चातुर्वर्ण्य व्यवस्था के अन्तर्गत यज्ञीय प्राधान्य के कारण केवल ब्राह्मणों का ही प्राधान नहीं था, अपितु वाजसनेयि संहिता का एक परवर्ती अध्याय यह सूचित करता है कि प्राचीन भारत में विकसित उपजातियों का जन्म भी उस समय तक हो चुका था।

भौगोलिक तथ्य

यजुर्वेद की भौगोलिक स्थिति भी ऋग्वेद से भिन्न है। आर्य उस समय तक महासिन्धु प्रदेश छोडकर मध्यप्रदेश की ओर बढ़ गए थे। वैदिक सभ्यता का केन्द्र उस समय भारत का पूर्वी प्रदेश था। सिन्धु और उसकी सहायक नदियों का यजुर्वेद मे ऋग्वेद की तरह उल्लेख नही मिलता। सम्भवतः उत्तरी भारत के मध्य देश मे यजुर्वेद की रचना हुई थी। मध्य देश में कुरु और पाञ्चाल दो बड़े राज्य थे। यजुर्वेद तथा तत्सम्बन्धी ब्राह्मणों में कुछ क्षेत्र को विशेष रूप से पवित्र बताया गया है। यह प्रदेश सतलज और यमुना का मध्यवर्ती था। इसी का नाम ब्रह्मावर्त था। यजुर्वेद की समस्त शाखाओं का जन्म यहीं हुआ।

मूल्यांकन

इस प्रकार साहित्यिक कृति के रूप मे पढ़ने पर यजुर्वेद संहिता चाहे जितनी शुष्क, नीरस एव समरसता के कारण डुबा देने वाली हो, परन्तु धर्म के विविध स्वरूपों के अध्येता के लिए वह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। केवल भारतीय धर्म ही नहीं, अपितु प्रायः सभी धर्मों के विन्यास एवं उनकी प्रक्रिया के अध्ययन के लिए यजुर्वेद का महत्त्व अस्वीकार नही किया जा सकता। धर्म के विकास में प्रार्थना का स्वरूप, उत्पत्ति एवं विन्यास जानने के लिए भी यजुर्वेद की उपेक्षा नहीं की जा सकती। इसके अतिरिक्त भारतवर्ष के परवर्ती धार्मिक एवं दार्शनिक साहित्य को समझने के लिए भी यह संहिता अपरिहार्य है, क्योंकि यजुर्वेद के बिना कर्मकाण्डीय वाद-विवादों से परिपूर्ण ब्राह्मणों को नहीं समझा जा सकता और उसके बिना उपनिषदों के रहस्य को समझना भी कठिन सा ही है।

तृतीय अध्याय

सामवेद संहिता

वैदिक संहिताओं में सामवेद संहिता का परम महत्त्व है। बृहद्देवता में इसी लिए लिखा है—

'यो वेत्ति सामानि स वेत्ति तत्त्वम्'

इसी प्रकार श्रीमद्भगवद् गीता के अन्तर्गत भगवान् कृष्ण ने साम को ही अपना रूप कहा है—

'वेदानां सामवेदोऽस्मि'

सामवेद संहिता के छान्दोग्योपनिषद् में 'ओङ्कार' को सामवेद का सार कहा है जो सब वेदों में श्रेष्ठ है।

ग्रिफिथ महोदय ने तो सामवेद का महत्त्व स्पष्ट करते हुए कहा है कि पवित्रता एवं धार्मिकता की दृष्टि से सामवेद का महत्त्व ऋग्वेद से दूसरा है।[1]

साम का अर्थ—यद्यपि 'साम' शब्द गेय पाठ के अर्थ में प्रयुक्त होता है तथापि इसका वास्तविक अर्थ 'राग' या 'लय' ही है। इस तथ्य का समर्थन विन्टर निट्ज महोदय ने बड़ी दृढ़ता के साथ किया है:—

"Samveda Samhitas are nothing but collections of texts which have been collected for the uses of Udgatras not for their own sake but because of the melodies the bearers of which they were."

---

1. The Sam veda............ranks next in sanctity and literarical importance to the Rig veda or veda of Recited praise. B. T. Griffith, the Hymns of the Samveda, Preface.

साम का सम्बन्ध जिस मूल भाव से है वह देवों अथवा दैत्यों को प्रसन्न अथवा शान्त करने का गान है:—

"स्मयति नाशयति विघ्नमिति सामन्" अथवा "समयति संतोषयति देवाननेनेति सामन् ।"

इस प्रकार साम में कोमल एवं सरभ शब्दों का भाव निहित है । प्राचीन साहित्य में सामवेद का उल्लेख 'छन्दोगस् कथयति' इस नाम से मिलता है । छन्दोगस् का अर्थ है—छन्दोगायक । छन्द शब्द का मूल अर्थ संगीतात्मक कथन ही अथवा इससे कुछ मिलता जुलता रहा होगा, क्योंकि 'चन्द' आह्लादने धातु से छन्द शब्द निष्पन्न होता है । वृहदारण्यकोपनिषद् में साम शब्द की सुन्दर निरुक्ति की गई है । वृहदारण्यकोपनिषद् की निरुक्ति के अनुसार 'सा' का अर्थ ऋक् है और 'अम' का अर्थ षड्ज, ऋसभ आदि सप्त स्वर हैं । इस प्रकार साम शब्द का अर्थ वृहदारण्यकोपनिषद् के अनुसार ऋक् से सम्बद्ध स्वर प्रधान गान है । उक्त व्युत्पत्त्यार्थ को स्पष्ट करते हुए वृहदारण्यकोपनिषद् में लिखा है:—

'सा च अमश्चेति तत्साम्नः सामत्वम् । सा ऋक् तया सह सम्बन्धः अमोनाय स्वरः यत्र वर्त्तते तत्साम् ।'

छान्दोग्योपनिषद् में भी साम को ऋक् पर आधृत माना है—ऋचि अध्यूढं साम । यही कारण है कि ऋक् और साम के गाढ़ सम्बन्ध को सूचित करने के लिये दोनों में दाम्पत्य भाव की कल्पना की गई है । अथर्वेद, ऐतरेय ब्राह्मण तथा वृहदारण्यकोपनिषद् में यह वाक्य आया है—

'अमोहमस्मि सा त्वं, सामाहमस्मि ऋक्त्वं, ताविह सम्भवाव, प्रजामाजनयावहै ।'

सामवेद का ऋग्वेद से सम्बन्ध

यजुर्वेद की अपेक्षा सामवेद ऋग्वेद के अधिकतर समीप है । साहित्यिक इतिहास की दृष्टि से इस संहिता की महत्ता नगण्य है । इसका कारण यह है कि इसका प्रतिपाद्य विषय स्वतन्त्र नहीं है । ७५ सामों के अतिरिक्त सभी

साम ऋग्वेद की ही प्रत्यक्ष ऋचायें है। ये ऋचायें अधिकतर ऋग्वेद के अष्टम मण्डल (सोम मण्डल) तथा सोम सम्बन्धी नवम मण्डल के भाग से ली गई हैं। सामवेद और यजुर्वेद में साम्य यह है कि इन दोनों का संग्रह यज्ञ के क्रियात्मक उद्देश्य के लिए हुआ था, क्योंकि सम्पूर्ण सामों का एक मात्र अभिप्राय विविध सोमयागों के अवसरों पर गाया जाना है। ऋग्वेद संहिता के विभिन्न प्रसंगों में आयी हुई ऋचायें अलग करली गईं और उन्हें एक साथ संगृहीत कर दिया गया। उनका महत्त्व सोम यज्ञ के कृत्यों के साथ उनके व्यावहारिक उपयोग पर निर्भर है। ऋग्वेद की मूल ऋचाओं और इन ऋचाओं में स्वरूपगत कोई भेद नहीं है, केवल उच्चारणगत अन्तर है। अतः सामवेद को ऐसे शब्दों का ग्रन्थ समझना चाहिए जिनका प्रयोग सोम यज्ञ के अवसर पर उद्गाता ऋत्विक् करता था। ये ऋचाएँ गणों में विभक्त होकर गीतात्मक सामों का रूप धारण कर लेती हैं। इनमें गाने के लिए अपेक्षित कतिपय विकार, जैसे दीर्घीकरण, पुनरावृत्ति एवं अन्य पदों का आदान आदि उत्पन्न हो जाते हैं।

सामवेद संहिताओं में जो पाठ हमें मिलता है वह उसी रूप में है, जिस रूप में वह गायन के समय होता था। कहने का अभिप्राय यह है कि इस पाठ में साम के लिए अपेक्षित सभी विकारों की स्थिति मिलती है। ये विकार ६ हैं:—

(१) शब्द परिवर्तन—शब्द परिवर्तन रूप विकार के अनुसार 'अग्ने' के स्थान पर 'ओग्नायि' हो जाता है।

(२) विश्लेषण—विश्लेषण रूप विकार के द्वारा एक-एक पद का पृथक्-करण हो जाता है। जैसा कि 'वीतये' का वोयि तोयारयि।

(३) विकर्षण—विकर्षण में एक ही स्वर का बहुत देर तक विविध प्रकार से उच्चारण होता है। जैसे 'ये' का या २ ३, यि।

(४) अभ्यास—अभ्यास के अन्तर्गत किसी पद का पुनरुच्चारण होता है। जैसे, तोया का तोया रयि।

(५) विराम—लय उत्पन्न करने के लिए पदों के बीच में रुकना 'विराम' विकार कहलाता है। जैसे गृणानो ह। व्यदातये।

(६) स्तोभ—गान के अनुकूल कतिपय निर्थक शब्दों या वर्णों का प्रयोग 'स्तोभ' कहलाता है। इस प्रकार के उदाहरण 'होयी', 'हूवां', 'होंइ', 'औं' "होउआ', 'हाउ', रायि आदि हैं।

ये साम प्राचीन काल में मौखिक परम्परा के द्वारा सिखाये जाते थे और सम्भवतः वाद्य यन्त्रों के साथ सिखाये जाते थे, क्योंकि सामो का गायन स्वर सप्तक के अनुसार ही होता है। गाते समय उद्गाता पुरोहित विविध स्वरों पर हाथों और अंगुलियों द्वारा बल देते थे।

सामवेद संहिता का स्वरूप

पुराणों में सामवेद की सहस्र संहिताओं का उल्लेख है। पतञ्जलि ने भी अपने महाभाष्य में 'सहस्रवर्त्मा सामवेदः' लिखकर सामवेद की सहस्र शाखाओं का संकेत किया है। जैमिनीय गृह्य सूत्र में सामतर्पण के अवसर पर १३ ऋषियों के नाम तर्पण करने का विधान है। निश्चय ही, यहाँ, प्रत्येक ऋषि का किसी एक शाखा से सम्बन्ध सूचित होता है। प्रत्येक ऋषि की मूलतः अपनी-अपनी सामवेद संहिता रही होगी। परन्तु वर्त्तमान में केवल तीन सामवेद संहिताएँ ही प्राप्त हैं। शेष लुप्त हो गई। इन शाखाओं में परस्पर कोई मौलिक भेद नहीं, भेद केवल उच्चारण सम्बन्धी है। उदाहरण के लिये कौथुमी संहिता में जहाँ 'हाइ' तथा 'राई' स्तोभों का विधान है वहाँ राणायनीय संहिता के अन्तर्गत 'हातु' तथा 'रायि' स्तोभों का विधान है। इसी प्रकार एक तीसरी शाखा की संहिता में एकार और ओकार का ह्रस्व उच्चारण किया जाता है। इस प्रकार का उच्चारण भेद वेद पाठियों को भले ही महत्त्वपूर्ण हो, किन्तु हमें उसका कोई महत्त्व नहीं प्रतीत होता। अतः किसी भी शाखा की संहिता के स्वरूप का विश्लेषण सभी संहिताओं के स्वरूप को लक्षित करेगा, क्योंकि उनमें परस्पर स्वरूपगत कोई भेद नहीं

है। यहाँ हम कौथुमी संहिता के अनुरूप सामवेद के स्वरूप का वर्णन करेंगे।

सामवेद संहिता दो भागों में विभक्त है। (१) पूर्वार्चिक (२) उत्तरार्चिक। समस्त संहिता की ऋक् संख्या १८१० है और यदि पुनरावृत्त ऋचायें निकाल दी जायें तो यह संख्या १५४६ ही रह जाएगी। १२२५ ऋचायें अकेले उत्तरार्चिक में हैं। ७५ को छोड़कर समस्त ऋचायें ऋग्वेद से ली गई हैं। जो प्रायशः गायत्री अथवा प्रगाथ छन्द में हैं। पूर्वार्चिक और उत्तरार्चिक का वस्तु विभाजन भिन्न-भिन्न है।

पूर्वार्चिक ६ प्रपाठकों में विभक्त है। प्रत्येक प्रपाठक में प्रायः दश ऋग्दशतियाँ हैं। केवल षष्ठ प्रपाठक में नौ ऋग्दशातियाँ हैं। प्रथम १२ दशतियों मे अग्नि सम्बन्धी ऋचायें हैं और अन्तिम ११ दशतियों की ऋचायें सोम से सम्बन्धित हैं। बीच-बीच में ३६ ऋचायें इन्द्र के उद्बोधन मन्त्र हैं।

उत्तरार्चिक में नौ प्रपाठक हैं। प्रथम ५ प्रपाठक दो-दो अध्यायों में उपविभक्त है और अन्तिम चार प्रपाठक तीन-तीन अध्यायों मे उपविभक्त हैं। प्रत्येक अध्याय में प्रायः ३ ऋचा समूह है। ये ऋचा एक दूसरे से सम्बन्धित हैं। प्रत्येक ऋचा समूह का प्रथम मन्त्र (ऋचा) पूर्वार्चिक में भी मिलता है। इस प्रकार पूर्वार्चिक के मन्त्रों की पुनरावृत्ति तथा ऋग्वेद से पाठ-भेद, ये दो ऐसे तथ्य हैं जिनके आधार पर यह कहा जा सकता है कि उत्तरार्चिक की रचना पूर्वार्चिक के पश्चात् हुई। ओल्डर के मतानुसार इस पाठ भेद के पीछे उद्देश्य निहित है। ऋचाओं में संगीतात्मकता लाने के लिए इतना अन्तर होना स्वाभाविक ही था। पूर्वार्चिक और उत्तरार्चिक दोनों भागों का उद्देश्य एक मात्र साम गान है। वह विद्यार्थी जो उद्गाता होने का इच्छुक था, पहिले तो पूर्वार्चिक की ऋचाओं की सहायता से सामगान की विधि अच्छी प्रकार सीखता होगा और बाद में ऋचाओं को उस रूप में स्मरण करता होगा जिस रूप में उनका यज्ञ में गान किया जाता था। इसी रूप में उत्तरार्चिक की ऋचायें हैं। अतः पाठभेद उत्तरार्चिक की अर्वाचीनता का सूचक नहीं माना जा सकता।

वैदिक कर्मकाण्डियों के मतानुसार साम ऋचा से उत्पन्न है, अतएव ऋक् को योनि कहा गया है। यद्यपि एक ऋक् को लय-भेद से अनेक सामों के रूप में गाया जा सकता है और इसी प्रकार एक साम (राग) का प्रयोग अनेक ऋचाओं में किया जा सकता है तथापि कुछ ऐसी ऋचायें हैं जो कुछ सामों की विशेष रूप से योनियां हैं। इस प्रकार पूर्वार्चिक वस्तुत: योनियों का संग्रह मात्र है। जिससे लगभग दुगुने साम तो गाये ही जा सकते हैं।

उत्तरार्चिक में कुल ४०० साम हैं जिनसे १२२५ ऋचायें आच्छादित हैं।

पूर्वार्चिक में ऋचाओं का विकास प्रमुखत: छन्द की दृष्टि से किया गया है और गौण रूप से स्तूयमान देवताओं की दृष्टि से। परन्तु उत्तरार्चिक में सामों का विन्यास प्रमुख यज्ञों की दृष्टि से किया गया है। एक साम की प्राय: एक तृच (तीन ऋचायें) होती हैं।

इस प्रकार स्पष्ट है कि उत्तरार्चिक एक प्रकार का गीत-संग्रह है, जिसमें गीत पूर्ण रूप में दिये हुए हैं। जो व्यक्ति साम की विधि को अच्छी प्रकार सीख गया है, वही गीतों को समझ सकता है।

पूर्वार्चिक में दो प्रकार के गान हैं—एक ग्रामगेयगान और दूसरे अरण्य-गेयगान। अरण्यगेयगान के अन्तर्गत वे गान आते हैं जिनका गायन गाँव में निषिद्ध था। अत: उनकी साम विधि वन में सीखी जाती होगी, गाँव में नहीं। ग्रामगेय और अरण्यगेय गानों को ऊहा गान और ऊह्य गान भी कहते हैं।

सामवेद की उत्पत्ति

सामवेद संहिता के अन्तर्गत जो साम हमें उपलब्ध हैं उनकी उत्पत्ति कैसे हुई? यह एक विचारणीय प्रश्न है। हमारा विचार है कि पुरोहितों ने स्वयं इन सामों का आविष्कार नहीं किया, वरन् पहिले ही से परम्परित सामों को ही अपना लिया होगा। ये प्राचीन साम जन प्रिय राग होंगे जिनके अनुसार

लोग सामाजिक उत्सवों के अवसर पर गीत गाते होंगे। कुछ साम इससे भी प्राचीनकाल---सुदूर प्रागैतिहासिक काल से चले आ रहे होंगे, जिनके अनुसार तत्कालीन ऐन्द्रजालिक पण्डित अपने प्रचण्ड गीतों को गा-गा कर यातवीय क्रियायें दिखाते थे। इस प्रकार, सामवेद संहिता के साम मूलतः लोक प्रिय और ऐन्द्रजालिक रागों से लिये गये। सामों की इस प्रकार की उत्पत्ति के सम्बन्ध में अनेक पोषक तर्क दिये जा सकते हैं, जैसे—

स्तोमों का प्रयोग

(१) सामों में प्रयुक्त होने वाले स्तोम जनप्रिय हर्षादि सूचक ध्वनियों के अतिरिक्त कुछ नहीं।

ब्राह्मण ग्रन्थों के निर्माण काल तक सामवेद के साम अथवा राग ऐन्द्र-जालिक शक्ति से युक्त माने जाने लगे थे। सामवेद संहिता की एक कर्म-काण्डीय पुस्तक 'साम विधान ब्राह्मण' में ऐन्द्रजालिक उद्देश्य के लिए कति-पय सामों का विनियोग भी है।

(३) सामों अथवा रागों का ब्राह्मण धर्म के पूर्ववर्ती लोकप्रिय विश्वासों और इन्द्रजाल से कुछ सम्बन्ध इस बात से भी पुष्ट होता है कि ब्राह्मण धर्म की स्मृतियों में साम गान सुनते ही ऋग्वेद और यजुर्वेद के पठन-पाठन को एकदम बन्द करने का विधान है। आपस्तम्ब स्मृति में स्पष्ट लिखा है कि कुत्ते का भौंकना, गधे का रेंकना, भेड़िये का गुर्राना सियारों का चिल्लाना, उल्लू का हू हू करना, वाद्य यन्त्रों की ध्वनि, रोने की ध्वनि और सामगान को सुनते ही वेदाध्ययन नहीं करना चाहिए।

इस प्रकार जब यज्ञों की महत्ता बढ़ चली होगी तो वैदिक ब्राह्मणों ने भी लोक-प्रिय रागों में अपनी ऋग्वैदिक ऋचाओं का गायन प्रारम्भ कर दिया होगा, सम्भवतः यह सोचकर कि रागमय ऋचाओं को सुनकर देवता और अधिक प्रसन्न हो जाएंगे।

चतुर्थ अध्याय

अथर्ववेद–संहिता

अथर्व का अर्थ

अथर्ववेद का अर्थ है—'अथर्व' अर्थात् जादू-मन्त्रों का ज्ञान । मूल रूप में अथर्व का अर्थ अग्नि-पुरोहित था और हो सकता है कि पुरोहित के लिए भारतवर्ष में पहिले यही शब्द प्रयुक्त होता रहा हो, क्योंकि इस शब्द की उत्पत्ति इन्डो-ईरानियन काल से सम्बन्धित है। अवेस्ता के अथर्वन् (अग्नि पुरुष) भारतीय अथर्व के ही समान हैं। पारसियों की तरह प्राचीन भारतीयों में अग्नि पूजा (Fire-cult) खूब प्रचलित थी। ये अग्नि पुरोहित ऐन्द्रजालिक भी थे। इस प्रकार हम समझ सकते हैं कि अथर्ववेद का तात्पर्य पुरोहित-ऐन्द्रजालिक के मन्त्रों से है।

भारतीय साहित्य में इस वेद का नाम अथर्वाङ्गिरस भी है। अथर्व के समान अङ्गिरस् भी एक प्रागैतिहासिक अग्नि पुरोहितों का वर्ग था। अथर्व के समान इस शब्द मे भी ऐन्द्रजालिक भाव आ गया है।

ब्लूमफील्ड के मतानुसार अथर्व और अङ्गिरा—ये दो शब्द दो प्रकार के ऐन्द्रजालिक मन्त्रों के वाचक हैं। अथर्व पवित्र जादू का वाचक है, जो सबका कल्याण करने वाला है। अङ्गिरा अपवित्र और घातक जादू का वाचक है। उदाहरण के लिये रोग निवारण सम्बन्धी मन्त्र अथर्व के अन्तर्गत आते हैं जबकि शत्रु निवारण, अपसारण आदि मन्त्र घातक ऐन्द्रजालिक मन्त्र हैं।

इस प्रकार प्राचीन नाम से पता चलता है कि अथर्ववेद संहिता में दो प्रकार के जादू मन्त्र विद्यमान हैं। अर्वाचीन नाम 'अथर्ववेद' प्राचीन नाम अथर्वाङ्गि-रस् वेद का संहिता रूप प्रतीत होता है।

अथर्ववेद संहिता का स्वरूप

अथर्ववेद संहिता ७३१ सूक्तों का संग्रह है। इस वेद के कुल मन्त्रों की संख्या ६००० है। समस्त सूक्त २० काण्डों के अन्तर्गत हैं। अथर्वद की उप-र्युक्त मन्त्र संख्या शौनक शाखा की अथर्ववेद संहिता के अनुसार है। लानमैनका विचार है कि अथर्ववेद संहिता के २० काण्डों को स्पष्टतया ३ भागों में बांटा जा सकता है। इस विद्वान् के मतानुसार प्रथम भाग प्रथम काण्ड से लेकर षष्ठ काण्ड तक होगा, जिसका एक परिशिष्ट ७ वें काण्ड मे माना जायेगा। दूसरा भाग सप्तम से लेकर द्वादश काण्ड तक माना जा सकता है और तीसरा भाग १३ वें काण्ड से लेकर १८ वें काण्ड तक माना जाना चाहिये, जिसका १९ वें काण्ड को परिशिष्ट समझा जा सकता है। मूलतः संहिता में १९ वां काण्ड भी नहीं था। इस काण्ड को बाद में जोड़ा गया और २० वां काण्ड तो बहुत उत्तरकाल में जोड़ा गया है, जो सबसे अर्वाचीन है।

अथर्ववेद के १२०० मन्त्र ऋग्वेद से लिये गये हैं। ये मन्त्र अधिकतर दशम, प्रथम और अष्टम मण्डलों से लिये गये हैं। २० वें काण्ड के १४३ सूक्तों में से केवल १२ को छोड़कर अन्य सब ऋग्वेद से लिये गये हैं। इस प्रकार अथर्ववेद का लगभग $\frac{1}{6}$ भाग पूर्णतया ऋग्वेद पर आधारित है। २० वें काण्ड को छोड़कर अन्य काण्डों में लिये गये मन्त्रों में कहीं कहीं पाठभेद दृष्टिगोचर होता है। अथर्ववेद का बहुत सा भाग गद्यात्मक है। मूलतः अठारह प्रामाणिक काण्डों का वस्तु विन्यास एक निश्चित योजना को दर्शाता है। पहिले ७ काण्डों में (अर्थात् लानमैन के अनुसार प्रथम भागों में) अनेक छोटे छोटे सूक्त हैं। प्रथम काण्ड का प्रत्येक सूक्त सामान्यतः चार मन्त्रों का है। दूसरे काण्ड के एक सूक्त में ५ मन्त्र हैं और तीसरे काण्ड के प्रत्येक सूत्र में ६ मन्त्र हैं। चतुर्थ काण्ड का प्रत्येक

सूक्त ७ मन्त्रों का है। पञ्चम काण्ड के सूक्तों में सूक्त की निम्नतम मन्त्र संख्या आठ और अधिकतम मन्त्र संख्या १८ है। षष्ठ काण्ड में १४२ सूक्त हैं, जिनमें अधिकांश तीन मन्त्र वाले हैं। सप्तम काण्ड के अन्तर्गत ११८ सूक्त हैं, जिनमें अधिकतर सूक्त २ अथवा १ मन्त्र वाले हैं।

आठवें से लेकर १४ वें तक तथा १७ वें और १८ वें काण्डों में लम्बे-लम्बे सूक्त हैं। सबसे छोटा सूक्त अष्टम काण्ड का प्रथम सूक्त है। जिसमें २१ मन्त्र हैं तथा सबसे बड़ा सूक्त १८ वें काण्ड का चतुर्थ सूक्त है। इस सूक्त में ८६ मन्त्र हैं। १५ वें और १६ वें काण्ड अधिकांशतः गद्यात्मक हैं, जिनकी शैली ब्राह्मण ग्रन्थों से बहुत मिलती जुलती है। यद्यपि संहिता के विषय विभाग की इस योजना में अधिकतर ध्यान मन्त्र संख्या का किया गया है तथापि विषय का भी कुछ ध्यान किया गया जान पड़ता है। ऐसा प्रतीत होता है कि संहिता में एक ही विषय से सम्बन्धित दो, तीन, चार अथवा इससे भी अधिक सूक्त एक साथ ही संगृहीत किये गये हैं। यही कारण है कि बहुधा काण्ड का प्रथम सूक्त सूक्त परिचय की दृष्टि से रखा गया है। इस प्रकार द्वितीय, चतुर्थ, पञ्चम तथा सप्तम काण्डों के प्रारम्भ के कर्मकाण्ड से सम्बन्धित सूक्त सोच समझकर सबसे पहिले रखे गये हैं। इस आधार पर कुल मिलाकर हम कह सकते हैं कि १ से ७ तक काण्डों वाले प्रथम भाग में भिन्न भिन्न विषय वाले दीर्घ सूक्त संगृहीत हैं और १३ वें से १८ वें काण्ड तक के तृतीय भाग में सब ऐसे ही सूक्त संगृहीत हैं जिनमें प्रत्येक एक पृथक्-विषय से सम्बद्ध है। इस प्रकार १४ वें काण्ड में केवल विवाह से सम्बन्धित सूक्त हैं और १८ वें काण्ड में केवल अन्त्येष्टि विषयक सूक्त। १९ वें काण्ड में भैषज, राष्ट्र समृद्धि एवं अध्यात्म आदि से सम्बन्धित विविध विषयक सूक्त हैं। बीसवें काण्ड के अन्तर्गत ऋग्वेद संहिता ही के सोम विषयक सूक्तों को संगृहीत कर दिया है। कुन्तापसूक्त अवश्य नवीन रचना हैं।

अथर्ववेद संहिता की अर्वाचीनता

अनेक प्रमाणों के आधार पर अथर्ववेद संहिता ऋग्वेद संहिता की

अपेक्षा अर्वाचीन प्रतीत होती है। अथर्ववेद संहिता के अर्वाचीन होने के सम्बन्ध में नीचे लिखे प्रमाण दिये जा सकते है :—

भाषा और छन्द सम्बन्धी प्रमाण

अथर्ववेद संहिता और ऋग्वेद सहिता के सूक्तों की भाषा और छन्द यद्यपि तत्त्वत: समान हैं परन्तु अथर्ववेद सहिता की भाषा मे निश्चित रूप से कुछ अर्वाचीन और लोकगत प्रयोग देखने को मिलते है जो बहुत अशों में ब्राह्मण ग्रंथों के निकट है। छन्द का विनियोग भी अथर्ववेद मे ऋग्वेद की तरह नियमितता के साथ नहीं हुआ है। १५ वें और १६ वें काण्डों के अतिरिक्त जो पूर्णतया गद्यात्मक है, अन्य काण्डों मे भी बहुश: पद्यात्मक मन्त्रों के बीच-बीच में गद्य का प्रयोग हुआ है। कभी-कभी यह पहचानना भी कठिन हो जाता है कि कोई अंश उच्चकोटि के गद्य में है अथवा निम्न कोटि के पद्य में।

भौगोलिक एवं सांस्कृतिक तथ्यों पर आधारित प्रमाण

अथर्ववेद सहिता में प्राप्त भौगोलिक तथ्य एवं सांस्कृतिक संकेत निस्सन्दिग्ध रूप से इस सहिता की ऋग्वेद संहिता की अपेक्षा अर्वाचीनता के साधक हैं। अथर्वद के सूक्तों के रचनाकाल मे आर्य लोग गगा के मैदान में आ गये थे। बगाल के व्याघ्र का उल्लेख अथर्ववेद में आ गया है। ऋग्वेद में उसका पूर्ण अभाव है।

जहां तक सांस्कृतिक सम्बन्धों का प्रश्न है, चातुर्वर्ण्य ब्राह्मणों की श्रेष्ठता तथा देव तुल्यता आदि का उल्लेख अथर्ववेद में अनेक बार हुआ है। अथर्ववेद की प्रकृति को समझकर यह माना जा सकता है कि उसके ऐन्द्रजालिक मन्त्र अतीव प्राचीन और जनप्रिय हैं, परन्तु संहिता कारों ने संहिता में उन मन्त्रों को उस रूप में नहीं रहने दिया, उनका ब्राह्मणीकरण कर दिया गया। यही कारण है कि अथर्ववेद संहिता में अर्वाचीन प्रकृति के उपर्युक्त संकेत मिलते हैं। इस सम्बन्ध में विन्टर निट्ज महोदय लिखते हैं—

"The songs of magic in the Atharva Ved, which according to their main contents are certainly popular and very ancient, have no longer even their original form in the Sanhita; but are Brahmanised.

अज्ञात रचयिताओं द्वारा रचित ये अति प्राचीन मन्त्र मूलतः लोक-काव्य ही थे, परन्तु अथर्ववेद संहिता में वे इस मौलिकता को खो बैठे हैं अथवा जान बूझकर संहिताकारों ने उन्हें मौलिकता से वञ्चित कर दिया है। अथर्ववेद संहिता के अन्तर्गत पदे-पदे यह प्रतीत होता है कि यह संहिता पुरोहितों का संग्रह है। यही नहीं कतिपय शुद्ध पुरोहितकृत सूक्त भी इस संग्रह में में यत्र तत्र सम्मिलित कर दिये गये हैं। ऐसे सूक्त बहुत अर्वाचीन रचनायें हैं। प्रकीर्ण सूक्तों में दिये गये उपमानों से यह बात आन्तरिक रूप से भी प्रमाणित हो जाती है कि वे पुरोहित वर्ग की गढ़ी हुई रचनायें हैं। उनमें पुरोहितों की श्रेष्ठता का भी प्रतिपादन किया गया है। संहिता में सूक्तों की एक श्रेणी पुरोहितों से सम्बन्धि प्रतीत होती है, जिसमे ब्रह्मभोज, दक्षिणा, दान आदि विषयों का उल्लेख है। निस्सन्देह ये सूक्त पुरोहितों की अपनी कृतियां हैं जो प्राचीन मन्त्रों के साथ ही सगृहीत कर दिये गये हैं। मूलतः लोक काव्य की यह ब्राह्मणीकरण की प्रक्रिया निश्चित रूप से, अथर्ववेद संहिता की अर्वाचीनता की अभिसूचक है।

३. धार्मिक और दार्शनिक तथ्यों पर आधारित प्रमाण

कतिपय धार्मिक और दार्शनिक तथ्यों से भी अथर्ववेद संहिता की अर्वाचीनता का पता चलता है। अथर्ववेद संहिता में ऋग्वेद संहिता के समान ही अग्नि, इन्द्र आदि देवता हैं, परन्तु उनकी प्रकृति ऋग्वेद संहिता की प्रकृति से भिन्न है। प्रथम बात तो यह है कि देवताओं की व्यावर्त्तक विशेषतायें शेष नहीं रह गई हैं। दूसरे, प्राकृतिक शक्तियों अथवा दृश्यों की दृष्टि से उनका महत्त्व भुला दिया गया है और देवताओं का आह्वान भी राक्षसों, प्रेतों और दुरात्माओं से रक्षा के लिये होता है।

अथर्ववेद के दार्शनिक सूक्तों में, उपनिषदों में पल्लवित अद्वैतवाद और उसके पारिभाषिक शब्दों का उल्लेख मिलता है, परन्तु इतने पर भी उनका ऐन्द्रजालिक विनियोग इस बात को सिद्ध करता है कि अति प्राचीन इन्द्रजाल का इस संहिता में अस्वाभाविक एवं अत्यन्त अर्वाचीन उपयोग किया गया है।

यद्यपि यह कथन ठीक है कि अथर्ववेद का उपलब्ध संहिता रूप ऋग्वेद के प्राप्त संहिता रूप की अपेक्षा अर्वाचीन है, परन्तु इसका तात्पर्य यह कदापि नहीं है कि अथर्ववेद के समस्त सूक्त ऋग्वेद समस्त सूक्तों से अर्वाचीन हैं। इसका तात्पर्य तो केवल यही है कि अथर्ववेद संहिता का अर्वाचीनतम भाग ही ऋग्वेद संहिता के अर्वाचीनतम भाग की अपेक्षा अर्वाचीन है। विन्टर निट्ज लिखते हैं—

It only follows that the latest hymns of the Atharva Veda are later than the latest hymns of the Rig Veda.

अथर्ववेद संहिता के अनेक सूक्त जिनका विषय शुद्ध ऐन्द्रजालिक है, निस्सन्दिग्ध रूप से प्राचीनतर नहीं तो उतने प्राचीन अवश्य हैं जितनी प्राचीन ऋग्वेद संहिता की यज्ञीय कविता। अथर्ववेद संहिता के अधिकांश सूक्तों की रचना ऋग्वेद संहिता के प्राचीनतम सूक्तों के समान अन्धकारमय प्रागैति-हासिक युग से सम्बन्धित है। ऋग्वेद सहिता के समान ही अथर्ववेद संहिता में विद्यमान सूक्तों में परस्पर कालिक दूरी शताब्दियों की प्रतीत होती है। अथर्ववेद संहिता के केवल अर्वाचीन सूक्तों के विषय में ही यह कहा जा सकता है कि उनकी रचना का प्रतिमान ऋग्वेद संहिता के सूक्तों जैसा है। अतः ओल्डेन वर्ग का यह विचार दूषित है कि भारत के प्राचीनतम ऐन्द्रजालिक मन्त्र गद्यात्मक ही थे, ऐन्द्रजालिक गीत और स्तोत्र (पद्यात्मक मन्त्र) तो बाद में, यज्ञीय मन्त्रों वाली कविता अर्थात् ऋग्वेद के प्रतिमान को देखकर बनाये गये।

अथर्ववेद की विषय वस्तु

(Contents of Atharva veda)

अथर्ववेद के सूक्तों की सही प्रकृति का अनुमान उसकी विषय वस्तु के विश्लेषण से सहज में लगाया जा सकता है। विषय वस्तु की दृष्टि से अथर्ववेद के सूक्तों का विभाजन भारतीय एवं पाश्चात्य विद्वानों ने भिन्न-भिन्न प्रकार से किया है। पं० बलदेव उपाध्याय ने "वैदिक साहित्य और संस्कृति" के अन्तर्गत अथर्ववेद के सूक्तों को अध्यात्म अधिभूत और आधिदैवत, इन तीन भागों में विभक्त किया है।[1] विन्टर निट्ज महोदय ने अथर्ववेद संहिता की विषय वस्तु का विभाजन भैषजानि', आयुष्य सूक्त, पौष्टिक सूक्त, मृगार सूक्त, प्रायश्चित्तानि, स्त्रीकर्माणि, अभिचारकाणि, राजकर्माणि आदि के रूप में किया है।

वैसे तो उपर्युक्त विद्वानों द्वारा किये गये वर्गीकरण अथर्ववेद की समस्त सामग्री को आच्छादित कर लेते हैं, परन्तु फिर भी स्पष्टतर एवं विशदतर विश्लेषण के द्वारा अथर्ववेद के वर्ण्यविषय का मूल्याङ्कन सही-सही हो सकता है। इस दृष्टिकोण से अथर्ववेद की विषय वस्तु का विभाजन भी निम्न पद्धति से किया जा सकता है--

१—रोग निवारण मन्त्र, स्तोत्र तथा औषधियां

अथर्ववेद संहिता में अधिकांश मन्त्र तथा स्तोत्र रोग निवारण के लिये हैं। इस प्रकार के मन्त्रों को भैषजानि कहा जाता है। इन मन्त्रों के अन्तर्गत या तो स्वयं रोग को ही सम्बोधित किया गया है और या फिर इन मन्त्रों के सम्बोध्य रोगों को लाने वाले दैत्य हैं। अन्य आदिम धर्मों की तरह भारत में भी यह विश्वास था कि पिशाच लोग या तो व्यक्ति को चोर, कुष्ठ आदि के रूप में यातना देते हैं या व्यक्ति के अन्तर में प्रविष्ट होकर उसे रोगी बना

1. Winternitz, Indian Literature Vol I.
   Page 129-158

देते हैं। या व्यक्ति के अन्तर में प्रविष्ट होकर उसे रोगी बना देते हैं। अथर्ववेद के इन मन्त्रों में रोगनिवारक औषधि की स्तुति की गई है। जल में अनेक रोगों को दूर करने की शक्ति होने के कारण, कुछ मन्त्रों में जल की स्तुति भी की गई है। अग्नि पिशाचों के अपसारण में सर्वाधिक समर्थ है। इसीलिए अथर्ववेद के बहुत से मन्त्रों में अग्नि से रोग मुक्ति की प्रार्थना की गई है। इन मन्त्रों में सम्बन्धित रोगों के लक्षण भी दे दिये गये हैं। अधिकांश सूक्त, ज्वर लाने वाले 'तक्मा', को सम्बोधित किये गये हैं।[१] इसके अतिरिक्त कुष्ठ रोग, पीलिया, जलोदर, गंज, अस्थिभङ्ग, क्षत, वीर्यक्षीणता, सर्पदशन एवं विषमूर्च्छा आदि विविध रोगों के निवारण के मन्त्र हैं।

अथर्ववेद के अन्तर्गत ज्वर का विशद रूप से वर्णन किया गया है। इस संहिता में ज्वर का वर्णन रोगों के राजा के रूप में किया गया है। अथर्ववेद संहिता के अन्तर्गत व्रण[२] एवं छालों से भरी देह का भी वर्णन किया गया है।[३] कीड़ों से उत्पन्न होने वाले रोग प्रायः सभी देशों में पाये जाते हैं। इस संहिता में इन को दुराने का भी वर्णन किया गया है।[४] इसके अतिरिक्त इन कीड़ों के नर और मादा के मरने का वर्णन भी इस संहिता के अन्तर्गत किया गया है।[५] नर-मादा की यही कल्पना जर्मन-लोक कविता के अन्तर्गत भी मिलती है।

प्रेतात्माओं को तो इस संहिता मे बीमारी की जड़ ही कहा गया है। परन्तु प्रेतों से मुक्ति पाने के लिये 'अजाभृङ्गी' नामक एक सुगन्धित बूटी के

१. अथर्ववेद सहिता ५।२२

२. अथर्ववेद १।१७,

३. अथर्ववेद ६।२५

४. अथर्ववेद २।३१

५. अथर्ववेद ५।३२

प्रयोग का वर्णन भी वहाँ उपलब्ध है।[1] इस प्रकार अथर्ववेद के अन्तर्गत विभिन्न रोग निवारण करने वाले मन्त्रों एवं औषधियों का वर्णन स्पष्ट रूप से मिलता है।

स्वास्थ्य तथा दीर्घ जीवन की प्रार्थनायें

अथर्ववेद संहिता के कुछ सूक्तों के मन्त्र स्वास्थ्य तथा दीर्घ आयु के लिए की जाने वाली प्रार्थनाओं के रूप में हैं। इन्हें 'आयुष्याणि' कहा गया है। रोग निवारण करने वाले मन्त्रों एवं इन मन्त्रों में बहुत थोड़ा भेद है। इन मन्त्रों का विनियोग विशेषत: पारिवारिक उत्सवों, उपनयन एवं गोदान आदि के अवसरों पर किया जाता होगा। इन मन्त्रों के अन्तर्गत बहुत काल तक जीने की प्रार्थना की गई है, जैसे—

'मा पुर: जरस: मृथा:। परैतु मृत्यु रमृतं न एतु'॥

इसके अतिरिक्त इस संहिता के अन्तर्गत १०१ प्रकार की मृत्युओं से रक्षा की तथा किसी भी प्रकार के रोग से मुक्त रहने की प्रार्थना भी की गई है। इस प्रकार के मन्त्रों मे प्राय: सामरूप अनुभव होता है। अथर्ववेद के १७ वे काण्ड का ३० मन्त्रो का एक पूरा सूक्त इसी प्रकार का है। जिस प्रकार रोग निवारण मन्त्रों मे 'औषधि' की स्तुति की गई है, उसी प्रकार इन मन्त्रो मे स्वास्थ्य को बनाये रखने तथा अधिक दिनों तक जीवित रखने के प्रभाव से युक्त ताबीज जैसे रक्षा सूत्रों की स्तुति की गई है।

आशीर्वादात्मक मन्त्र

'आयुष्याणि' से अत्यधिक मिले-जुले आशीर्वादात्मक मन्त्र भी अथर्ववेद

---

१. त्वया वयमप्सरसो गन्धर्वांश्चातयामहे।
अजश्रृङ्ग्यज रक्ष: सर्वान् गन्धेननाशय॥
अथर्ववेद संहिता ४।३७।२ तथा देखिये—
अथर्ववेद संहिता ४।३७; ३, ४, ७, ११, १२

में प्रचुरता से मिलते हैं। इन्हें भारतीय परम्परा में 'पौष्टिकानि' कहा जाता है। इन मन्त्रों में कृषक, ग्वाले एवं व्यापारी अपने-अपने व्यवसाय में सफलता एवं समृद्धि प्राप्त करने की आशा व्यक्त करते हैं। इसके साथ ही साथ खेत की जुताई के समय की शुभकामनायें, अन्न के बोने, बढ़ने तथा उगाने के लिए प्रार्थनायें, खेती को हानि पहुंचाने वाले कीटाणुओं के विनाश की प्रार्थनायें, वर्षा के कराने के यातवी मन्त्र, हिंस्र पशुओं तथा तस्करों से रक्षा के मन्त्र, द्यूत में जीतने के ऐन्द्रजालिक मन्त्र तथा नव-गृह निर्माण के समय पढ़े जाने वाले जादू यन्त्र भी आ जाते हैं। उदाहरणार्थ हम यहां वर्षा कराने के मन्त्र को उद्धृत कर रहे हैं—

समुत्पतन्तु प्रदिशो नभस्वतीः समभ्राणि वात जूतानि यन्तु। महऋषभस्य नदतो नभस्वतो वा श्रा आपः पृथिवीं तर्पयन्तु ॥[1]

प्रायश्चित्त मन्त्र

आयुष्याणि से मिलते-जुलते कुछ ऐसे सूक्त हैं, जिनमें किये हुए पापों का प्रायश्चित्त किया गया है। इस प्रकार के सूक्तों को 'प्रायश्चित्तानि' कहा जाता है। जिन पापों का प्रायश्चित्त इन सूक्तों में किया गया है, वे भाग नैतिक नहीं हैं। उनमे अनेक पाप, अपूर्ण रूप से विहित यज्ञों से उत्पन्न हुए हैं। कुछ अनजाने में हुये अपराध, कुछ ऋण न चुका सकने से उत्पन्न' अपराध और कुछ अनुचित विवाह सम्बन्ध से उत्पन्न पाप हैं।

शान्ति स्थापना मन्त्र

अथर्ववेद में कुछ ऐसे मन्त्र भी हैं, जिनका लक्ष्य शान्ति स्थापित रखना है। परिवार में यदि कोई कलह या भेद होता था तो वह किसी दुरात्मा के ऐन्द्रजालिक प्रभाव से उत्पन्न माना जाता था। अतः इस प्रकार के कलह और मनभेद के निवारण के लिए तथा शान्ति स्थापित करने के लिए अथर्व

---

१. अथर्ववेद संहिता ४।१५।१

वेद में अनेक सूक्त हैं, जिनके मन्त्रों में जादू जैसा प्रभाव है। स्वामी के रोष को शान्त करने तथा समाज में अधिक प्रभाव प्राप्त करने के मन्त्र भी इसी कोटि में आते हैं. ऐसे सूक्तों को 'संज्ञान सूक्तानि' कहा जाता है।

विवाह और प्रेम सम्बन्धी जादू मन्त्र

अब तक जिस प्रकार के सूक्तों का उल्लेख किया गया वे 'अथर्व' भाग से सम्बद्ध है। इसके अतिरिक्त ऐसे सूक्त भी तो अथर्ववेद के अन्तर्गत वर्तमान हैं, जिन्हें 'अङ्गिरस' भाग से सम्बद्ध कहा जा सकता है। विवाह और प्रेम सम्बन्धी जादू मन्त्र ऐसे ही सूक्तों में वर्तमान है। इनमे कुछ तो ऐसे मन्त्र हैं, जिनके द्वारा एक स्त्री अथवा पुरुष बिना हानि पहुँचाए पवित्र भावना से अभीष्ट पति अथवा पत्नी को पाने का प्रयत्न करता है। विवाह के पश्चात् सुखी दाम्पत्य जीवन गर्भरक्षण एवं पुत्र जन्मादि के लिये भी शुभकामनायें ऐसे मन्त्रों में उपलब्ध हैं। अथर्ववेद संहिता के १४ वें काण्ड के समस्त सूक्तों में इसी प्रकार के मन्त्र संगृहीत हैं।

उपर्युक्त मन्त्रों के अतिरिक्त दूसरे प्रकार के मन्त्र वे हैं जिनमें पत्नी पति के विद्वेषभाव को शान्त करने के लिये शान्ति-मन्त्रों का पाठ करती है। इसी प्रकार पति भी विश्वास घातिनी पत्नी का पुनः प्रेम पात्र बनाने के लिये मन्त्रों का उपयोग करता है। अथर्ववेद में प्रेमी प्रेयसी के यहां रात को चुपके से पहुंच जाता है और कहता है कि तुम्हारी माता नींद मे सोती रहे, तुम्हारे पिता, गृह के अन्य वृद्ध निद्रालीन हो। कुत्ते की भी आंख न खुलने पाये और तुम्हारे सगे सम्बन्धी अभी नहीं उठे।[1] इस उदाहरण के अन्तर्गत प्रेमी की स्थिति का वर्णन बड़ा सजीव है।

प्रेम प्राप्ति का उपाय

किसी स्त्री के प्रेम को प्राप्त करने का उपाय भी अथर्ववेद के अन्तर्गत

---

१. अथर्ववेद संहिता ४।५।६

उपलब्ध है। अथर्ववेद के अनुसार यदि कोई पुरुष किसी स्त्री का प्रेम प्राप्त करना चाहता है तो उसके लिये एक सरल उपाय है और वह यह कि वह प्रेयसी की एक मृत्तिका की मूर्ति को बनाये। इसके साथ ही साथ प्रेमाभिलाषी व्यक्ति पोस्त के रेशों से धनुष की डोरी बनाकर, फूलों से भरी डालियों का एक धनुष बनाकर, तीर में एक कांटे का सिर लगाकर, उल्लू के पङ्ख से तीर के पिछले भाग को सजाकर और काली लकड़ी की एक कमान बना ले। इस तीर कमान से प्रेम पिपासु को उस प्रेयसी की मूर्ति के हृदय को बींधना आरम्भ कर देना चाहिये। इससे यह तात्पर्य निकाला जाता था कि प्रेमी अपनी प्रेयसी के हृदय को कामविद्ध तथा परवश कर रहा है और अब वह निश्चय ही उसे (प्रेमी को) प्राप्त हो जाएगी।[1]

उपर्युक्त प्रकार के ही द्वारा स्त्री भी पुरुष के प्रेम को प्राप्त करने का प्रयत्न करती थी। अन्तर यही है कि प्रेमाभिलाषी पुरुष स्त्री की मूर्ति बनाता था और पुरुष प्रेम की अभिलाषिणी स्त्री पुरुष की मूर्ति का निर्माण करती थी। अथर्ववेद के अन्तर्गत स्त्री प्रेम की पशुता का तीव्र रूप उस स्थिति में दिखाई पड़ता है, जब स्त्री का उद्देश्य केवल अपने प्रति पक्षियों और सपत्नियों का विनाश होता है। (अथर्ववेद सहिता १।१४।१-४) इस पशुता की चरम सीमा उस समय दिखलाई पड़ती है जब स्त्री को बन्ध्या बनाने के लिये इन अभिशाप मन्त्रों का प्रयोग किया जाता है।[2] इसी प्रकार अथर्ववेद के मन्त्रों में पुरुष की जननेन्द्रिय के विनाश करने के प्रयोग का विधान भी मिलता है।[3]

उपर्युक्त प्रकार के सभी सूक्तों को "स्त्री कर्माणि" कहा जाता है।

---

१. विशेष देखिये – अथर्ववेद ३।२५ १–५, ६

२. अथर्ववेद संहिता ७।३५

३. अथर्ववेद संहिता ६।१३८, ७।९०

पिशाचों, यातुधानों एवं दुरात्माओं से रक्षा एवं उनके विनाश से सम्बन्धित मन्त्र

अथर्ववेद के अङ्गिरस वाले भाग में कतिपय ऐसे सूक्त आते हैं, जिनमें पिशाच, पिशाचनियों-प्रेतात्माओं और दुरात्माओं के हुये प्रभाव के प्रतीकार वाले मन्त्र हैं। इन्हें "अभिचाराणि" कहा जाता है। उस समय यह अन्धविश्वास प्रचलित था कि रोग दैत्यों, दानवों और राक्षसों के ही कोप का फल है। इसीलिये व्रण जैसे रोगों के लिये भी उपर्युक्त प्रकार के मन्त्रों का प्रयोग किया जाता था। किन मन्त्रों के द्वारा ऐन्द्रजालिक शत्रु ऐन्द्रजालिक को परेशान कर सकता है और किन मन्त्रों के द्वारा इस दुष्प्रभाव का निवारण किया जा सकता है—वे सब मन्त्र इन सूक्तों में साथ-साथ दे दिये गये हैं।

अथर्ववेद के अन्तर्गत अभिशाप को मूर्तिमती दानवी शक्ति के रूप में भी चित्रित किया गया है।१

राजविषयक मन्त्र

अथर्ववेद संहिता में कुछ सूक्त ऐसे हैं, जिनके मन्त्र राजविषयक हैं। इस प्रकार के सूक्तों को 'राज कर्माणि' कहा जाता है। ऐसा प्रतीत होता है कि प्राचीनकाल में भारत में प्रत्येक राजा का एक राज पुरोहित होता था, जो राजकर्मों में प्रवीण होने के साथ-साथ इन्द्रजाल एवं मन्त्र तन्त्र का भी ज्ञाता होता था। इन सूक्तों के अन्तर्गत ऐसे ही पुरोहितों के जादू मन्त्र हैं। इनमें राजा के शत्रुओं के लिये तो अभिचार मन्त्र हैं और स्वयं राजा के लिये शुभकामनायें हैं। इसके अतिरिक्त कुछ ऐसे मन्त्र हैं, जो राजा के अभिषेक के समय पढ़े जाते होंगे। कुछ ऐसे मन्त्र भी हैं, जिनमें शत्रु को पराजित करने की बात कही गई है और कुछ ऐसे मन्त्र हैं, जो राजा की शक्ति और यश को सूचित करते हैं। कतिपय ऐसे मन्त्र भी हैं, जिनमें राजा में जोश लाने का

---

१. अथर्ववेद ६।३७।२

प्रभाव है। इन सब मन्त्रों में एक विशेष प्रकार का ऐन्द्रजालिक प्रभाव होता है। इस प्रकार के सूक्तों में 'समर गीत' अत्यधिक मनोहर हैं, जिनमें योद्धाओं को लड़ने और शत्रुओं को पराजित करने के लिए ललकारा गया है—

वृषेव यूथे सहसा विदानो गव्यन्नभि रुव सन्धनाजित। शुचा विध्य हृदयं परेषां हित्वा ग्रामान् प्रच्युता यन्तु शत्रवः।। (अथर्ववेद ५।२०।३।

इस प्रकार के सूक्तों में दुन्दुभि[1] सूक्त भी अत्यधिक उत्तेजनात्मक हैं एक मन्त्र देखिये—

यथा श्येनात् पतत्रिण, संविजन्ते अहर्दिवि सिंहस्य स्तनथोर्यथा। एवा त्वं दुन्दुभेऽ मित्रानभिक्रन्द प्र त्रासयाथो चित्तानि मोहय।।[2]

ब्राह्मण विषयक सूक्त

अथर्ववेद के ऐन्द्रजालिक सूक्तों में कतिपय सूक्त ऐसे भी मिलते हैं, जिनमें पुरोहितों के अधिकारों और शक्तियों का उल्लेख है। इन सूक्तों में पुरोहितों की आज्ञा की अनुल्लंघनीयता का दृढ़ता से प्रतिपादन किया गया है और जिनमें उनके जीवन तथा सम्पत्ति पर व्याघात करने वाले के लिए होने वाले भयङ्कर परिणामों एवं अभिशापों का उल्लेख भी किया गया है। कुछ सूक्तों में दक्षिणा का महत्त्व भी वर्णित हुआ है। दक्षिणा न देकर पुरोहितों को कष्ट देना घोरतम पाप है और दक्षिणा देकर पुरोहितों को प्रसन्न करना सर्वोच्च पुण्य है। अप्रसन्न ब्राह्मण अपने जादू मन्त्रो से किसी का कौनसा अनिष्ट नहीं कर सकता। कतिपय सूक्त ऐसे भी हैं, जिनके मन्त्रों में बुद्धि, यश और ज्ञान (कर्मकाण्डीय तथा इतर ज्ञान) की चर्चा हुई है। इन पुरोहित विषयक सूक्तों को प्राचीन लोक-काव्य के रूप में कदापि नहीं माना जा सकता। ये तो निश्चय ही पुरोहितों की रचनायें प्रतीत होती हैं, जो अथर्ववेद संहिता में बाद को जोड़ दी गई हैं।

---

१. देखिए अथर्ववेद, पांचवें मण्डल का २० वां तथा २१ वां सूक्त

२. अथर्ववेद ।५।२१।६

यज्ञीय ऐन्द्रजालिक मन्त्र

ऋग्वेद के यज्ञीय सूक्तों के समान अथर्ववेद संहिता में भी कतिपय यज्ञीय ऐन्द्रजालिक सूक्त मिलते हैं, जिन्हें देखकर मैक्डोनल महोदय लिखते हैं—

"It is impossible to draw a distl nct line of demarcation between sacrifiee and sorcery in Vedic religion, of which witchcraft is essential element,

इस प्रकार मैक्डोनल महोदय के कथनानुसार वैदिक धर्म के अन्तर्गत, जिसका जादू टोना प्रमुख तत्त्व है, यज्ञ एवं इन्द्रजाल के बीच भेद की रेखा खींचना असम्भव है।

यजुर्वेद की ही तरह इन सूक्तों में कुछ गद्यात्मक स्तोत्रों का भी सद्भाव है। १८ वें काण्ड के समस्त सूक्तों में यज्ञीय ऐन्द्रजालिक मन्त्र ही हैं, जिनमें मुख्य रूप से अन्त्येष्टि और पितरों की पूजा से सम्बन्धित मन्त्र अधिक हैं। बीसवें काण्ड के समस्त सूक्त सोम यज्ञ से सम्बन्धित है, जो 'कुन्ताप सूक्त' के अतिरिक्त ऋग्वेद से ही लिए हुए हैं। ऐसे सूक्तों में कुछ मन्त्र 'प्रहेलिकाओं' और उनके उत्तरों के रूप में हैं कई दिन तक चलने वाले यज्ञों के अवसर पर पुरोहित लोग इसी प्रकार की प्रहेलिकाओं द्वारा अपना मन भी बहलाते होंगे। विन्टर निट्ज महोदय का विचार है कि अथर्ववेद संहिता में इस प्रकार के सूक्तों का संग्रह सम्भवतः इसलिए किया होगा कि अन्य तीन वेदों के समान यज्ञ से सम्बद्ध होकर यह मन्त्र संग्रह (अथर्ववेद) भी 'वेद' कहलाने का अधिकारी हो जाय।'

दार्शनिक सूक्त

इन्द्रजाल परक सूक्तों के साथ-साथ अथर्ववेद संहिता में कतिपय दार्श-

---

Macdonall . A Histary of sanskrit Literature
Page 191

१. Wintervintiz Indian Literature Vol. I Page 148

निक सूक्त भी उपलब्ध होते हैं। विन्टर निट्ज महोदय का विचार है कि वहां दार्शनिक सूक्तों का उपयोग इन्द्रजाल की दृष्टि से है जो बहुत अस्वाभाविक एवं अधिक अर्वाचीन है। यों तो इन सूक्तों में सृष्टि आदि के सम्बन्ध में कतिपय उच्च विचार भी मिलते है। उदाहरण के लिए उन्नीसवें मण्डल के ५३ वें और ५४ वें सूक्त में काल को सृष्टि का मूल कारण माना गया है। इस सम्बन्ध में यहां निम्नलिखित मन्त्र को उद्घृत करना अप्रासङ्गिक न होगा।

काले तप: काले ज्येष्ठं काले ब्रह्म समाहितम्। कालो ह सर्वस्येश्वरो यः पितासीत् प्रजापते:॥ अथर्ववेद १९।५३।८

अर्थात् काल ही तप है, काल ज्येष्ठ है, काल में ही ब्रह्म प्रतिष्ठित है। काल सभी का पिता और प्रजापति है।

इसी प्रकार के अनेक मन्त्र अथर्ववेद के अन्तर्गत उपलब्ध होते हैं। १९ वें काण्ड के ५४ वें सूक्त में विविध वस्तुओं की एक सूची प्रस्तुत की गई है। सम्भवत: इन वस्तुओं का निर्माता भी काल ही है। इस प्रकार के वर्णनों की दार्शनिकता के सम्बन्ध में यद्यपि अनेक विद्वानों को सन्देह है, परन्तु कुछ भी हो इतना तो निश्चित ही है कि ये सूक्त पूर्णरूप से दार्शनिकता से शून्य नहीं कहे जा सकते। इन सूक्तों मे जो सृष्टि सम्बन्धी एवं अन्य दार्शनिक विचार मिलते हैं, वे भी ऋग्वेद संहिता से प्रादुर्भूत एव उपनिषदों में पुष्पित एवं पल्लवित दार्शनिक विचार शृंखला की ही एक कड़ी हैं। यह बात दूसरी है कि कालक्रम की दृष्टि से उनका महत्व अधिक नहीं है।

उपर्युक्त दार्शनिक विचारधाराओं के अतिरिक्त अथर्ववेद के रहस्यात्मक विचारों में भी दार्शनिकता की झलक देखी जा सकती है। उदाहरण के लिए, अथर्ववेद के ८ वें अध्याय के रोहित सूक्तों में अत्यधिक रहस्यात्मकता के दर्शन होते हैं। प्रथम सूक्त के ही अन्तर्गत रोहित अर्थात् उदित होते हुए

सूर्य की लालिमा को, सृष्टि का मूल तत्त्व बतलाया गया है। रोहित को ही द्यावा पृथिवी का स्रष्टा बतलाया गया है और रोहित की ही शक्ति पृथ्वी और आकाश को अपने-अपने स्थान पर संभाले हुये है। तेरहवें काण्ड के तृतीय सूक्त में रोहित परम देव के रूप में भी स्तुत हुए हैं। इसी प्रकार रोहित का वर्णन अथर्ववेद के अन्तर्गत वृष[1] और गौ[2] की सर्वोच्च सत्ता के रूप में भी किया गया है। इस प्रकार के वर्णनों के सम्बन्ध में हमारा विचार है कि ये वर्णन रहस्यात्मक होते हुए भी विशुद्ध रूप से दार्शनिक नहीं कहे जा सकते।

---

१. अथर्ववेद ४।११

२. अथर्ववेद १०।१०

पञ्चम अध्याय

(ब्राह्मण, अरण्यक एवं उपनिषत् साहित्य)

ब्राह्मण ग्रन्थ-परिचय

काव्यमयी वैदिक संहिताओं के युग के पश्चात् एक ऐसा युग आया जिसमें एक विशिष्ट साहित्यिक प्रकार के ब्रह्म सम्बन्धी ग्रन्थों को जन्म दिया गया। ये ग्रन्थ ही ब्राह्मण ग्रन्थ कहलाए। इन ग्रन्थों के स्वरूप की यह विशेषता है कि वे गद्यगत हैं और उनकी विषय वस्तु की विशेषता यह है कि वे याज्ञिक कृत्यों का विवेचन करते हैं। ब्राह्मणों का उद्देश्य उन्हीं व्यक्तियों के लिये यज्ञ की पावन महत्ता को व्याख्यान करना है, जो यज्ञ की विधि एवं कृत्यों से पूर्व परिचित हैं। मैक्डोनल ने ब्राह्मणों के प्रतिपाद्य के सम्बन्ध में विचार करते हुए कहा है –

Their main object being to explain the sacred significance of the ritual to those who are already familiar with the sacrifice, the descriptions, they give of it, are not exhaustive, much being stated only is outline or omi'ted altogether.

इस प्रकार जो व्यक्ति यज्ञ से पूर्णतया अपरिचित हैं उनके लिए ये ब्राह्मण ग्रन्थ यज्ञीय कृत्यों का निःशेष परिचय नहीं प्रस्तुत करते।

ब्राह्मण शब्द का अर्थ

ब्राह्मणों के वर्ण्य के विषय में विचार करते समय ब्राह्मण शब्द के अर्थ के विषय में अवश्य विचार करना चाहिए। 'ब्रह्मणन्' (नपुंसकलिङ्ग) शब्द से अण् प्रत्यय होने पर ब्राह्मण शब्द व्युत्पन्न होता है। इस प्रकार ब्राह्मण

शब्द का अर्थ है—'ब्रह्मणो ऽयमिति ब्राह्मणः' अर्थात् ब्रह्म से सम्बद्ध ब्राह्मण कहलाता है। "ब्रह्म वै मन्त्रः" (शतपथ ब्राह्मण) के अनुसार ब्रह्म शब्द का अर्थ वेद मन्त्र और यज्ञ मन्त्र दोनों है। अतएव विन्टर निट्ज ने लिखा है—

The word Brahman means first a single "explanation or utterance of a learned priest, of a doctor of the science of sacrifice upon any point of ritual." Used collectively the word means secondly, a collection of scuh utterances and discussions of the priests upon the science of such sacrifice.

डा० विन्टर निट्ज के उपर्युक्त कथन के अनुसार ब्रह्म शब्द का अर्थ यज्ञ एवं मन्त्र दोनों ही है। यद्यपि ब्राह्मणों के अन्तर्गत सृष्टि सम्बन्धी पौराणिक तथ्यों से सम्बन्धित एव प्राचीन आख्यानों आदि जैसी कुछ ऐसी सामग्री है, जिसका यज्ञीय विषय से दूर का सम्बन्ध है तथापि ब्राह्मणों का विवेच्य प्रमुखतः यज्ञ ही है।

आप्टे ने अपने कोष-ग्रन्थ में ब्राह्मण शब्द का अर्थ स्पष्ट करते हुए कहा है—

That portion of the Vedas which states rules for the employment of the hymns at the various sacrifices, their origin and detailed explanation, with sometimes lengthy illustrations in the shape of legends and stories, is distinct from the 'Mantras' portion of the Vedas.'

इस प्रकार आप्टे महोदय के कथनानुसार ब्राह्मण शब्द का अभिप्राय वेद के उस भाग से है जिसके अंन्तर्गत यज्ञों के अवसर पर मन्त्रों के प्रयोग के नियम, उनकी उत्पत्ति तथा कभी-कभी विस्तृत आख्यायिकाओं के साथ व्याख्यायें सन्निहित हैं।

भास्कर ने तैत्तिरीय संहिता के भाष्य में ब्राह्मण शब्द का अर्थ करते हुए लिखा है—

"ब्राह्मणं नाम कर्मणस्तन्मन्त्राणां च व्याख्यान ग्रन्थः"

अर्थात् कर्मकाण्ड और उससे सम्बन्धित मन्त्रों की व्याख्या जिन ग्रन्थों के अन्तर्गत मिलती है, उन्हें ब्राह्मण ग्रन्थ कहते है।

वाचस्पति मिश्र ने 'ब्राह्मण' की परिभाषा करते हुये लिखा है—

नैरूक्त्यं यस्य मन्त्रस्य विनियोगः प्रयोजनम्। (प्रतिष्ठानं विधिश्चैव) ब्राह्मणं तदिहोच्यते ॥

हमारे विचार से ब्राह्मण ग्रन्थ यज्ञों की वैज्ञानिक, आधिभौतिक एवं आध्ययात्मिक मीमांसा प्रस्तुत करने वाले विश्वकोष हैं, क्योंकि।

(१) इनमें यजुर्वेद संहिता (वाजसनेयि सहिता) के अन्तर्गत वर्णित समस्त याज्ञिक कृत्यों का विवेचन है। (२) ये ग्रन्थ विभिन्न यज्ञीय कृत्यों के सम्बन्ध, विवेचन एवं मन्त्रों तथा प्रार्थनाओं के विनियोग के साथ-साथ विविध यज्ञों के सम्बन्ध में निर्देश देते हैं। (३) इन ग्रन्थों में याज्ञिक कृत्यों तथा उनके प्रार्थना मन्त्रों मे परस्पर जो सम्बन्ध है, उसकी प्रतीकात्मक एवं विचारात्मक व्याख्या की गई है। (४) यदि किसी यज्ञीय कृत्य के सम्बन्ध में पुरोहितों का मतभेद है तो अन्यमतों के खण्डन के साथ एक मत का प्रतिपादन किया जाता है। (५) विभिन्न देशों और परिस्थितियों में जो सम्भाव्य रीति भेद है उसका उल्लेख भी इन ग्रंथों में मिलता है। (६) यज्ञ में पुरोहित की क्या दक्षिणा होनी चाहिये, इसका उल्लेख भी ब्राह्मणों में उपलब्ध होता है। (७) ब्राह्मण ग्रन्थों में उन ऐहिक एवं आमुष्मिक लाभों का भी उल्लेख है जो यजमान को विभिन्न यज्ञीय कृत्यों के सम्पादन के फलस्वरूप मिलते हैं।

ब्राह्मणों की संख्या

कृष्ण यजुर्वेद की विभिन्न संहिताओं में, मन्त्रों अथवा प्रार्थनाओं के अतिरिक्त यज्ञ के उद्देश्य एवं अर्थ सम्बन्धी विभिन्न वाद-विवादों एवं तत्सम्बन्धी मत-निर्णयों का विवेचन मिलता है। ब्राह्मणों की व्याख्यात्मक प्रवृत्ति का पूर्वरूप हमें कृष्णयजुर्वेद के अन्तर्गत मिलता है। जहाँ मन्त्रों तथा

मन्त्रांशों के साथ यज्ञ के उद्देश्य और अर्थ पर भी विचार किया गया है। विन्टर निट्ज का विचार है कि यजुर्वेद के ऐसे स्थलों को ब्राह्मण का नाम दिया जा सकता है। ऐसा प्रतीत होता है कि इन्हीं यज्ञ, सम्बन्धी सङ्केतों को लेकर आगे चलकर ब्राह्मण ग्रंथों की स्वतन्त्र रचना की गई थी और कुछ समय पश्चात् यह अनुभव किया गया होगा कि प्रत्येक वैदिक सम्प्रदाय (शाखा) का स्वतंत्र ब्राह्मण होना चाहिये। इसीलिये आज ब्राह्मणों की विशाल संख्या मिलती है और यही कारण है कि वैदिक साहित्य का कुछ अश सही अर्थ में ब्राह्मण न होते हुए भी ब्राह्मण कहलाता है। उदाहरण के लिए सामवेद के ब्राह्मण ब्राह्मण न होकर वेदांग ही अधिक हैं। इसी प्रकार अथर्ववेद का गोपथ ब्राह्मण भी वेदांग ही अधिक है। गोपथ ब्राह्मण समस्त वैदिक साहित्य में सबसे बाद की रचना है। प्रारम्भ में अथर्ववेद से सम्बन्धित कोई ब्राह्मण न था। वेद के साथ ब्राह्मण सत्ता को अनिवार्यता को ही इस प्रकार के ग्रन्थों को 'ब्राह्मण' सज्ञा देने का श्रेय है।

इस प्रकार ब्राह्मणों की विपुल संख्या का होना स्वाभाविक है। क्योंकि चारों वेदों की विभिन्न शाखाओं के अपने स्वतत्र ब्राह्मण अवश्य होंगे। परन्तु इनमें से बहुत से विलुप्त हो गए होंगे। इस समय प्राप्त ब्राह्मणों में विलुप्त ब्राह्मणों के उद्धरण मिलते हैं जो ब्राह्मणों की विशाल संख्या के अस्तित्व को पुष्ट करते हैं। परन्तु प्राप्त ब्राह्मणों की संख्या भी किसी प्रकार कम नहीं है। इन प्राप्त ब्राह्मणों में महत्त्वपूर्ण ब्राह्मण इस प्रकार हैं—

(१) **ऋग्वेद का ऐतरेय ब्राह्मण**—इस ब्राह्मण में चालीस अध्याय हैं। ये अध्याय आठ पञ्चकों में विभक्त हैं। सोम यज्ञ इसका मुख्य विषय है। इसके अतिरिक्त अग्निष्टोम और राजसूय यज्ञ का वर्णन भी है।

(२) **ऋग्वेद का कौषीतकि ब्राह्मण**—इसमें ३० अध्याय हैं। अग्न्याधान, अग्निहोत्र, दर्शपौर्णमास की चर्चा प्रथम छः अध्यायों में है। ७ वें अध्याय से ३० वें अध्याय तक ऐतरेय ब्राह्मण के समान सोम याग का वर्णन है। प्रत्येक अध्याय के ५-७ तक खण्ड हैं जिनकी कुल संख्या २२६ है। कौषीतकि

ब्राह्मण का ही दूसरा नाम शांखायन भी है।

(३) **सामवेद का ताण्ड्य ब्राह्मण**—ताण्ड्य ब्राह्मण को ही पञ्चविंश भी कहते हैं। इसमें २५ काण्ड हैं। इस ब्राह्मण में अत्यल्प यज्ञ कर्म से लेकर वर्ष पर्यन्त होने वाले सोम यागों का उल्लेख है। व्रात्यस्तोम यज्ञों का वर्णन विशेष रुचिकर है।

(४) **सामवेद का षड्विंश ब्राह्मण**—यह ब्राह्मण ताण्ड्य ब्राह्मण का २६ वाँ काण्ड है। षड्विंश ब्राह्मण के अन्तिम भाग में चमत्कारों एवं शकुनों पर एक वेदांग सूत्र ग्रथित है जिसे अद्भुत ब्राह्मण की संज्ञा दी गई है।

(५) **सामवेद का जैमिनीय ब्राह्मण**—इसे ही तलवकार ब्राह्मण भी कहते। इसमें पाँच काण्ड हैं।

कृष्ण यजुर्वेद का तैत्तिरीय ब्राह्मण

तैत्तिरीय ब्राह्मण, तैत्तिरीय संहिता का ही अरण्यक कालिक विकास है। कृष्ण यजुर्वेद की संहिताओं मे ब्राह्मण पहिले से ही समाविष्ट थे। परन्तु इस ब्राह्मण में कुछ और जोड़ दिया गया है तैत्तिरीय सहिता में जिस पुरुष मेध यज्ञ का वर्णन नहीं है, वही इस ब्राह्मण का एकमात्र वर्णन है।

शुक्ल यजुर्वेद का शतपथ ब्राह्मण

इसमें १०० अध्याय हैं। ब्राह्मण ग्रन्थों में यह सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। शुक्ल यजुवेद की माध्यन्दिनी और काण्व दो शाखाओं के कारण इस ब्राह्मण के भी दो पाठ रूप हैं। इस ब्राह्मण का नाम शतपथ इसीलिये पड़ा है कि इसमें १०० अध्याय हैं। ये सौ अध्याय १४ काण्डों के अन्तर्गत हैं। आरम्भ के नौ काण्ड शुक्ल यजुर्वेद संहिता के १६ अध्यायों की व्याख्या उपस्थित करते हैं। १० वें काण्ड में अग्निरहस्य तथा ११ वें में पूर्वगामी यज्ञों की पुनरावृत्ति तथा १२ वें १३ वें काण्डों में अनेक उपविषय व्याख्यान है। १४ वाँ काण्ड अरण्यक है। इस अरण्यक के ही छः अध्यायों को बृहदारण्य-

कोपनिषद् कहते हैं। शतपथ ब्राह्मण के महत्त्व के सम्बन्ध में मैक्डोनेल ने लिखा है—

This work is next to Rigveda, the most important in the whole range of Vedic literature.

अर्थात् शतपथ ब्राह्मण का महत्त्व ऋग्वेद के बाद है। यह ब्राह्मण समस्त वैदिक साहित्य मे अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

हमारे विचार से शतपथ ब्राह्मण के महत्त्व का एक पक्ष न होकर अनेक पक्ष है। यहाँ शतपथ ब्राह्मण के महत्त्व से सम्बन्धित विभिन्न पक्षों के विषय में विवेचन उपयुक्त होगा।

शतपथ ब्राह्मण का महत्त्व

कर्मकाण्ड सम्बन्धी महत्त्व (Theological Importance)—जिस समय यजुर्वेद संहिता का संग्रह एवं निर्माण हुआ, उस समय भारतवर्ष में यज्ञ की महत्ता बहुत बढ़ गई थी। यजुर्वेद और सामवेद की रचना (संग्रह) यज्ञ कराने वाले पुरोहितों—अध्वर्यु और उद्गाता के लिए की गई। कर्मकाण्ड का चरमोत्कर्ष ब्राह्मण ग्रन्थों के रचनाकाल मे हुआ, जिनमे यज्ञ को सर्वोपरिशक्ति ही मान लिया गया। वस्तुतः ब्राह्मण ग्रन्थ विभिन्न संहिताओं के यज्ञीय व्याख्यान ही है। इस प्रकार शतपथ ब्राह्मण शुक्ल यजुर्वेद का यज्ञीय व्याख्यान ही हैं। प्रतिपाद्य विषय की दृष्टि से अन्य ब्राह्मणो की अपेक्षा यह ब्राह्मण अधिक पूर्ण है—क्योंकि यजुर्वेद स्वयं विविध सोमयागों एवं अग्निहोत्रों का प्रतिपादन है, जिनका विशद व्याख्यान इस ब्राह्मण में किया गया और उन्हें दृढ भूमि पर स्थापित किया। ऋग्वेद संहिता एवं अथर्ववेद संहिता में एक-एक यज्ञ और उसके अनुष्ठान का ऐसा उल्लेख नहीं है क्योंकि ये दोनों संहिताएँ प्रधानतया काव्य संग्रह हैं। सामवेद संहिता भी इस दृष्टि से संकीर्ण है। अतः इन संहिताओं के ब्राह्मणों में यज्ञो तथा तत्सम्बन्धी कर्मकाण्ड का इतना विवेचन नहीं जितना कि शुक्ल-यजुर्वेद के शतपथ ब्राह्मण में है। सत्य

तो यह है कि ब्राह्मण की परिभाषा पूर्णतः शतपथ ब्राह्मण में ही चरितार्थ होती है। शाबर-भाष्य के अनुसार ब्राह्मण में निम्न बातें होती हैं—

हेतुनिर्वचनं निन्दा प्रशंसा संशयो विधिः।
पर क्रिया, पुराकल्पो व्यवधारणं कल्पना॥

स्थूल रूप से विधि और अर्थवाद के ही अन्तर्गत समस्त ब्राह्मणों की विषय वस्तु आ जाती है, क्योंकि अर्थवाद में निर्वचन, निन्दा, प्रशंसा आदि अन्तर्भूत हैं और विधि में हेतु आ जाता है। शतपथ ब्राह्मण में इन सबका अति स्पष्ट विवेचन है। उदाहरणों के द्वारा यह बात और स्पष्ट हो जायेगी।

विधि का उदाहरण

शतपथ ब्राह्मण में दर्शपौर्णमास यज्ञ के लिए एक विधि का उल्लेख है। वह विधि यह है कि इस यज्ञ में दीक्षित व्यक्ति पूर्व दिशा की ओर उन्मुख होकर आहवनीय एवं गार्हपत्य एवं गार्हपत्य अग्नि के मध्य खड़ा हो तथा जल का स्पर्श करे। इसके बाद इसका हेतु भी दिया गया है कि जल का स्पर्श क्यों करे—

अमेध्यो वै पुरुषः, यदनृतं वदति तेन पूतिरन्तरतः। मेध्या वा आपः मेध्यो भूत्वा व्रतमुपयानीति। पवित्रा वा आपः। पवित्र पूतो व्रतमुपयानीति तस्माद्वा आपः उपस्पृशन्ति।'

अर्थवाद का उदाहरण

अर्थवाद में निन्दा प्रसंसा आते हैं निन्दा का उदाहरण है—

"अमेध्यो वै पुरुषः, यदनृतं वदति" मेध्या वा आपः।"

प्रशंसा का उदाहरण इस प्रकार है—

"सर्वां ह वै पापकृत्यां सर्वां ब्रह्म हत्यामपघ्नन्ति योऽ एवमेवेन यजते।"

इसी प्रकार की विधियों और अर्थवाद के द्वारा सभी यज्ञों एवं आनु-

षंगिक कृत्यों का विवेचन किया गया है। अतः कर्मकाण्ड की दृष्टि से पूर्ण होने के कारण शतपथ ब्राह्मण का अधिक महत्त्व है। अपनी इसी पूर्णता के कारण शतपथ ब्राह्मण इतना दीर्घ काय हो गया है।

ऐतिहासिक महत्त्व

(Historical Importance)

ऐतिहासिक दृष्टि से भी शतपथ ब्राह्मण का महत्व है। प्रमुखरूप से शतपथ ब्राह्मण के निम्नलिखित दो महत्त्व पूर्ण तथ्य सामने आते हैं—

(१) शतपथ ब्राह्मण इस बातका प्रमाण है कि उसके धर्म और संस्कृति का केन्द्र कुरू पांचाल देश है, क्योंकि इसमे कुरू राजा जनमेजय तथा पांचाल के ब्राह्मण गुरु अरुणि का उल्लेख मिलता है। यह भी ज्ञात होता है कि उस समय ब्राह्मण धर्म मध्यदेश के पूर्व मे कोशल जहा की राजधानी अयोध्या थी तथा विदेह जहाँ की राजधानी मिथिला थी, तक व्याप्त था। विदेहपति जनक का दरबार कुरु पाञ्चाल के विद्वानों से भरा रहता था।

(२) शतपथ ब्राह्मण में उस समय की भी स्मृतियाँ सञ्चित हैं, जिस समय विदेह देश अभी ब्राह्मण धर्म में दीक्षित नहीं हुआ था। प्रथम काण्ड के एक आरण्यक से आर्यों के पूर्वी विस्तार का परिचय मिलता है। विदेह के राजा माधव जिनके वंश गुरु गौतम राहूगण थे, किसी समय सरस्वती पर रहते थे। ब्राह्मण धर्म की वैश्वानर अग्नि पृथ्वी को जलाती हुई वहाँ से पूर्व की ओर चल पड़ी। पीछे-पीछे माधव और राहूगण भी चल दिये। अन्त में, अग्नि सदानीरा (गण्डक) नदी पर आ पहुँची। इस नदी को अग्नि ने नहीं जलाया। ब्राह्मण धर्म के मानने वाले आर्य भी इस नदी के पार नही गये, क्योंकि अग्नि ने उसे नही जलाया था। पार की भूमि दलदली सी थी। ब्राह्मणों ने यज्ञ द्वारा अग्नि को प्रेरित किया और अग्नि में उस प्रदेश के प्रति रुचि उत्पन्न की। फिर माधव ने पूछा हे अग्नि देव 'मै कहां रहूँ ? अग्नि ने उत्तर दिया 'इस नदी के पूर्व मे रहो।'

वैदिक सस्कृति के इतिहास में इन दोनों तथ्यों का अतीव महत्त्व है।

३. सांस्कृतिक महत्त्व

शतपथ ब्राह्मण के अन्तर्गत तत्कालीन सांस्कृतिक झलक भी है, जिसके आधार पर हम संस्कृतिक के स्वरूप का अनुमान कर सकते हैं। इस अनुमान की निम्न दिशायें हो सकती हैं—

(१) ब्राह्मण कालीन संस्कृति में यज्ञों की प्रधानता थी। उस समय सम्भवत: ब्राह्मणों के सम्मुख 'अन्नं वै सोम:', प्राणा: प्रजापति:' की बात थी। अन्न और वायु का अत्यधिक महत्त्व था। यज्ञ द्वारा वायु को प्रेरित करके वर्षा कराकर अधिक उत्पन्न करना उनका लक्ष्य था। शतपथ ब्राह्मण के ये निम्न कथन इसी बात की सूचना देते हैं—

'अग्निर्वै धूमो जायते, धूमादभ्रम्' अभ्राद् वृष्टि:, मरुतो वा वर्षस्येशते तस्मात् यां दिशां वायुरेति तां दिशां वृष्टिरन्वेति, वृष्टिकामोयजेत' 'स्वर्ण-कामोयजेत, यज्ञो वै विष्णु:'।

(२) ब्राह्मण काल में पत्नी का उच्च स्थान था। वह पुरुष की अर्धाङ्गिनी थी। यज्ञ में उसका सहयोग अनिवार्य था। शतपथ ब्राह्मण में एकाधिक उल्लेख स्त्री की इस स्थिति के सूचक हैं। उदाहरणार्थ—

'अथ अर्धो वा एष आत्मन: यत्पत्नी'; 'अयज्ञो वा योऽपत्नीक:, 'श्रिय: वा एतद्रूप: यत्पत्न्य:'।

(३) ब्राह्मण कालीन संस्कृति में ब्रह्मचर्य का अत्यधिक महत्त्व समझा जाता था। उसे स्वयं 'सोम' के समकक्ष कहा है। शतपथ ब्राह्मण में लिखा है—

'रेतो वै सोम:'

(४) यज्ञों की अत्यधिक महत्ता के कारण उनके सम्पादन में सूक्ष्मातिसूक्ष्म सावधानी की आवश्यकता होती थी। अत: तत्कालीन समाज में उस

वर्ग का स्थान स्वभावतः उच्च था। जो यज्ञों को सम्पन्न कराता था। यही ब्राह्मण वर्ग या पुरोहित वर्ग था। ब्राह्मणोत्तर समाज इससे भिन्न था। ये ब्राह्मण मनुष्य देवता समझे जाते थे।

(ये ब्राह्मणाः शुश्रुवांसोऽनूचानास्ते मनुष्यदेवाः)। इस समय वर्ण-व्यवस्था बन चुकी थी, जिसमें ब्राह्मण वर्ण सर्वोपरि था।

ब्राह्मण काल में गृहस्थ का अत्यधिक महत्त्व था। इसीलिये लोग पुत्र की कामना करते थे। गृहस्थ लोगों का अतिथि सत्कार करना परम पुनीत कर्त्तव्य था। शतपथ ब्राह्मण में एक स्थल पर लिखा है—

'शिरो वा एतद् यज्ञस्य आतिथ्यम्'।

दार्शनिक महत्त्व

(Philosophical Importance)

(४) वस्तुतः ब्राह्मण ग्रन्थों में उस दर्शन का अभाव है, जिसका उदय और विकास उपनिषदों में हुआ। ब्राह्मणों के दर्शन को कर्मकाण्डीय दर्शन (Theosophy) कहा जा सकता है। शतपथ ब्राह्मण के कर्मकाण्डीय दर्शन में ऐसे अनेक तथ्य मिलते हैं, जो दार्शनिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं। ये तथ्य इस प्रकार हैं—

(१) शतपथ ब्राह्मण में बौद्ध दर्शन की विचारधारा के बीज निहित हैं। बौद्ध धर्म के पारिभाषिक शब्द अर्हन्, श्रमण प्रतिबुद्ध आदि इसी ब्राह्मण के लिये गये प्रतीत होते हैं। शतपथ ब्राह्मण और बौद्ध धर्म का कुछ सम्बन्ध इससे भी प्रकट होता है कि शतपथ ब्राह्मण की गुरु परम्परा में गौतमों का पौनः पुन्येन उल्लेख है। कपिल वस्तु के शाक्यों का वंशनाम 'गौतम' था। इसी वंश में बुद्ध का जन्म हुआ जो गौतम कहलाते थे।

(२) शतपथ ब्राह्मण में कतिपय उल्लेख सांख्य दर्शन के प्रारम्भ के संकेतक का हैं, क्योंकि उसमें अनेकशः 'आसुरी' गुरु का उल्लेख हुआ है, जो सांख्य दर्शन के प्रतिपादक हैं।

(३) शतपथ ब्राह्मण में विश्वैक्य के सिद्धान्त का प्रतिपादन अन्य ब्राह्मणों की अपेक्षा विस्तार से किया गया है। सम्भवतः इसीलिये इस

ब्राह्मण का परिशिष्ट–बृहदारण्यकोपनिषद् समस्त उपनिषदों में मूर्धन्य है। इस सम्बन्ध में विन्टर निट्ज महोदय ने लिखा है—

Even the fundamental doctrine of the Upnishadas as Shandilya enunciated it, is already found in the Shatapath Brahmana".

(५) पौराणिक महत्त्व (Mythological Importance) अन्य ब्राह्मणों की तरह शतपथ ब्राह्मण में सृष्टि विषयक विचार हुआ है। शतपथ ब्राह्मण में प्रतिपादित पौराणिक विचारधारा का उत्तर काल में विकसित पुराणों में पर्याप्त योगदान था। शतपथ ब्राह्मण में विश्व की उत्पत्ति इस प्रकार बतलाई गई है—

आदिकाल में केवल ब्रह्म था, उसने सब देवताओं को उत्पन्न किया। तीन प्रधान देवताओं अग्नि, वायु, और सूर्य के रहने के लिये पृथिवी, अन्तरिक्ष और स्वर्ग, ये तीन लोक दिए है।

सृष्टि विषयक उपर्युक्त विचारधारा यद्यपि पौराणिक है तथापि विन्टर निट्ज के अनुसार इस सिद्धान्त के बाद उपनिषदों के ब्रह्मवाद तक पहुँचाने के लिये एक ही कदम और चलना शेष था।

६. साहित्यिक महत्त्व
(Literary Importance)

शतपथ ब्राह्मण के साहित्यिक महत्व की भी उपेक्षा नहीं की जा सकती। साहित्यिक दृष्टि से इस ब्राह्मण का महत्व दो प्रकार का है—

(१) प्रथम प्रकार के साहित्यिक महत्त्व के अन्तर्गत शतपथ ब्राह्मण ब्राह्मण साहित्य की प्रसन्न उदात्त और विशाद गद्य शैली का आदर्श उपस्थित करता है। न कहीं दुर्बोधता है और न समास बहुलता। उदाहरण के लिये

अमेध्यो वै पुरुषः यदनृतं वदति। तेन पूतिरन्तरतः। मेध्या वा आपः मेध्यो भूत्वा व्रतमुपयानीति।

(२) शतपथ ब्राह्मण का दूसरा साहित्यिक महत्त्व यह है कि यह ब्राह्मण

पश्चाद्वर्ती लौकिक संस्कृत के कवियों के लिये रामायण और महाभारत के ही समान उपजीव्य बन गया।

रामायण और महाभारत का शतपथ ब्राह्मण से कुछ सम्बन्ध अवश्य प्रतीत होता है, क्योंकि महाभारत के विजयी पाण्डवों का शतपथ ब्राह्मणों में उल्लेख है। यहां इन्द्र का वाचक अर्जुन शब्द महाभारत में अर्जुन की इन्द्र से उत्पत्ति की धारणा का आधार है। जलौघ विषयक महाभारत आख्यान शतपथ ब्राह्मण में ही सर्व प्रथम आया है। रामायण महाकाव्य में आये हुए राजा जनक वे ही जनक हैं जिन्हें शतपथ ब्राह्मण में विदेह पति के रूप में प्रचुरता से उल्लेख किया गया है।

विशाल पुराण साहित्य में उपलब्ध कतिपय कथाओं का आधार शतपथ ब्राह्मण ही था। अर्वाचीन मत्स्य पुराण आदि की कथाएं तो पूर्णत: शतपथ ब्राह्मण में पहिले ही विद्यमान थीं।

संस्कृत के शिरोमणि कवि कालिदास के विख्यात दो नाटकों—विक्रमोर्वशीयम् और अभिज्ञान शाकुन्तलम् के कथानक सर्वप्रथम शतपथ ब्राह्मण में ही उल्लिखित थे।

इस प्रकार शतपथ ब्राह्मण की साहित्यक महत्ता के सम्बन्ध में कही हुई मैक्डोनल की यह उक्ति सर्वथा सत्य है—

"The Shatapath Brahman is, thus, a mine of important data and narratives."

भाषा वैज्ञानिक महत्त्व
(Philological Importance)

डा० वाकर तथा डा० नागेल ने अपने अन्वेषण में शतपथ ब्राह्मण से अनेक भाषा विज्ञान सम्बन्धी तथ्य खोज निकाले हैं। लौकिक संस्कृत के स्वरूप के विकास में ब्राह्मण ग्रन्थों की परिभाषा ने क्या योगदान दिया है, इसका चरम निदर्शन शतपथ ब्राह्मण है।

समालोचना

संहिताकाल में जो कुछ रचनात्मक कार्य हुआ वह सब ऋग्वेद संहिता और अथर्ववेद संहिता में उपनिबद्ध है। उसके बाद सामवेद और यजुर्वेद किसी नवीन रचना को उपस्थित नहीं करते। हाँ, ब्राह्मण काल में यज्ञों की महत्ता के कारण जो कुछ हुआ, उसे बहुत सीमा तक मौलिक कहा जा सकता है। मूलत: ये रचनाएँ यज्ञीय आवश्यकता की पूर्ति के लिये की गईं, जिसका प्रारम्भ कृष्ण यजुर्वेद में हुआ था, जिसमें ब्राह्मण भाग सहिता के साथ संगृहीत है। शुक्ल यजुर्वेद का ब्राह्मण भाग अलग से शतपथ ब्राह्मण के रूप में मिलता है। अन्य संहिताओं के ब्राह्मण तो बाद में केवल इसलिये बनाये गये कि संहिता का ब्राह्मण होना आवश्यक समझा जाने लगा, न कि इसलिये कि उनके द्वारा यज्ञीय आवश्यकता पूरी की जाय। सामवेद, ऋग्वेद और अथर्ववेद में यज्ञीय सामग्री थी ही कितनी सी। इनके ब्राह्मणों में यजुर्वेदीय ब्राह्मणों के प्रतिमान का अनुकरण किया गया। यजुर्वेदीय ब्राह्मणों में भी शुक्ल यजुर्वेद का शतपथ ब्राह्मण ही मौलिक एवं सर्वथा पूर्ण कृति दीखती है। जिस प्रकार समस्त सहिताओं में ऋग्वेद संहिता का केन्द्रीय महत्त्व है उसी प्रकार ब्राह्मण ग्रन्थों में शतपथ ब्राह्मण का भी महत्त्व है। यह कथन भी अनुचित न होगा कि समस्त वैदिक साहित्य में ऋग्वेद संहिता के पश्चात् ब्राह्मण का सर्वाधिक महत्त्व है।

ब्राह्मण का काल निर्धारण

ब्राह्मणों से हमें उस युग की सूचना मिलती है, जब सम्पूर्ण बौद्धिक क्रियाशीलता, यज्ञ, यज्ञ सम्बन्धी उत्सवों, यज्ञों के महत्त्व निर्धारण और यज्ञ की उत्पत्ति सम्बन्धी विचारों पर केन्द्रित थी। यद्यपि सभी ब्राह्मणों के वर्ण्य विषय में प्रायश: साम्य है, परन्तु फिर भी उनके रचना काल में अन्तर है। सम्पूर्ण ब्राह्मण साहित्य का निर्माण शताब्दियों की अवधि में सम्पन्न हुआ था। इस अवधि के निश्चय में यदि हम परम्परा प्रधान वंश का विश्वास करें,

जिसमें गुरुओं की ५०–६० परम्पराएँ दी गई हैं तो सहस्त्रों वर्ष की अवधि अपर्याप्त होगी, क्योंकि गुरुओं के इन वंश वृक्षों में गुरु परम्परा को किसी देवता से सम्बद्ध करने की प्रवृत्ति है फिर भी उनमें कुछ प्रमाणिक गुरु वंशों का उल्लेख है, जिनके नामों की उपेक्षा नहीं की जा सकती। इन वंश सूचियों के अतिरिक्त स्वयं ब्राह्मणों में अनेक गुरुओं और आचार्यों के नाम उद्धृत हैं, जिससे ब्राह्मणों का रचनाकाल बहुत पीछे पहुंच जाता है। इस सबसे यह तथ्य निकलता है कि इस विशाल यज्ञ विद्या के विकास में अनेक शताब्दियां लगी होगीं।

संहिताओं की तरह ब्राह्मणों की विकसावधि को भी निश्चित करना कठिन है। इतना निश्चय अवश्य है कि यज्ञ और मन्त्र जिस समय ब्राह्मणों के रूप में नवीन विषय बन रहे थे उस समय ऋग्वेद संहिता प्रलीन हो चुकी थी। सम्भवत: यह भी निश्चित है कि सामवेद, अथर्ववेद और यजुर्वेद के अन्तिम सम्पादन ब्राह्मणों के प्रारम्भिक सम्पादन के समकालीन थे। ऋग्वेद से तुलना करने पर ब्राह्मणों और उपर्युक्त अथर्ववेद और सामवेद की भौगोलिक और सांस्कृतिक परिस्थितियाँ अवश्य ही इस समकालीनता को पुष्ट करती हैं।

भौगोलिक समानता

अथर्ववेद संहिता से यह प्रमाणित होता है कि उस समय लोग गंगा यमुना की ओर बढ़ने लगे थे। यजुर्वेद संहिता और ब्राह्मणों के द्वारा संकेतित देश कुरु और पाञ्चालों का देश है। कुरु क्षेत्र का विस्तार दृषद्वती और सरस्वती नदियों के बीच था तथा पांचाल देश का विस्तार गंगा यमुना के उत्तर पश्चिमी मैदान से लेकर दक्षिणी पूर्वी मैदान तक था।

सांस्कृतिक समानता

ऋग्वेद की अपेक्षा धार्मिक एवं सामाजिक परिस्थितियों में पर्याप्त अन्तर

हुआ है। ब्राह्मणों, अथर्ववेद और यजुर्वेद में कुछ प्राचीन देवता मिलते तो हैं, परन्तु उनका महत्त्व केवल यज्ञ की दृष्टि से समान है। दूसरी ओर विष्णु, शिव जैसे अन्य देवता महत्त्वपूर्ण हैं। प्रजापति न केवल देवताओं प्रत्युत असुरों के भी जनक हैं। ऋग्वेद का प्राणवान् असुर अब राक्षस का वाची हो गया। देवासुर संग्राम की चर्चा पुनः पुनः की गई है। ब्राह्मणों की सबसे बड़ी विशेषता यज्ञ को अतिशय महत्त्व देना है। यज्ञ प्रकृति की नियमिक शक्ति है। वह प्रजापति से पूर्णतया एकीभून है—

"एष वै प्रत्यक्षं यज्ञो यत् प्रजापतिः।"

यज्ञ एवं सम्पूर्ण देवों प्राणियों का आत्मा है। यज्ञ के मन्त्रों के समान यज्ञ में उपयोगी प्रत्येक वस्तु का अधिक महत्त्व है। यज्ञ सम्बन्धी अन्य छोटी छोटी बातों, जैसे जलपात्रों की स्थापना करना, किस दिशा में बैठना, किधर को मुंह करके बैठना, किस मन्त्र का उच्चारण करना आदि को कई पीढ़ी के यज्ञाचार्यों ने विचार विमर्श के बाद बड़ी सावधानी से ब्राह्मणों में वर्णित किया है। सभी विवरणों के शुद्ध ज्ञान पर ही यज्ञ और यजमान की सफलता निर्भर है। अतः कुशल और बुद्धिमान् पुरोहित का अत्यधिक महत्त्व समझा गया है। यज्ञ पाप विनाशक कर्म के रूप में समझा गया है।

यज्ञ की इतनी महत्ता से समाज में पुरोहित वर्ग को भी सर्वोच्च स्थान प्राप्त हो गया था। तैत्तिरीय संहिता के अन्तर्गत "एते देवाः प्रत्यक्षं यद् बाह्मणाः" कहकर बाह्मणों को देवता कहा गया है। किन्तु शतपथ ब्राह्मण में विद्वान् ब्राह्मणों को देवता बतलाया गया है। शतपथ ब्राह्मण में दो प्रकार के देवता बतलाये गये हैं एक तो स्वयं देवगण और दूसरे विद्वान् लोग—

"ये ब्राह्मणाः शुश्रूवांसो ऽनूचानास्ते मनुष्य देवताः।"

यजमान देवताओं को यज्ञ की आहुतियों से और विद्वान् पुरोहित को दक्षिणा देकर प्रसन्न करता था। राज्याभिषेक के समय ब्राह्मण कहता है—हे मनुष्यों! यह व्यक्ति उसी प्रकार तुम्हारा राजा है कि जिस प्रकार हम ब्राह्मणों का राजा सोम है। शतपथ ब्राह्मण के अनुसार सम्पूर्ण प्रजा राजा

के लिये प्रश्न-स्थानीय (योग्य) है, पर ब्राह्मण नहीं। तैत्तिरीय ब्राह्मण में यह भी लिखा है कि ब्राह्मण से विरोध नहीं किया जा सकता।

ब्राह्मणों का महत्त्व यहीं तक सीमित नहीं रहा। वे देवताओं से भी बढ़ गये। शतपथ ब्राह्मण में कहा गया है कि ऋषि वंशज ब्राह्मण सर्वदेव हैं, अर्थात् ब्राह्मण में सभी देवता निवास करते हैं। आगे चलकर महाभारत आदि में ऐसी कथायें मिलती हैं, जिनमें कोई ऋषि अपनी तपस्या के कारण इतना प्रबल हो गया है कि इन्द्रादि देवताओं का सिंहासन उसके प्रभाव से हिल गया है। बौद्ध धर्म में इन्द्रादि देवता और सामान्य मर्त्यों में आंशिक अन्तर है। यह अन्तर भी तभी का है जब तक कि देवों के श्रद्धालु बौद्ध रहते हैं। इन इन्द्रादि देवों से उच्च न केवल बुद्ध है, वरन् प्रत्येक वह मनुष्य जो विश्वप्रेम के कारण "अर्हन्" हो गया है।

इस प्रकार ब्राह्मणों में पहिले ही से उस गति के लिए मार्ग तैयार कर दिया गया जिससे बौद्ध धर्म का आविर्भाव हुआ, क्योंकि इस बात में कोई सन्देह नही कर सकता कि प्राचीन प्रामाणिक ब्राह्मण बौद्ध काल के हैं। इस प्रकार यह दृढतापूर्वक कहा जा सकता है कि यजुर्वेद आदि संहिताओं और ब्राह्मणों की उत्पत्ति का काल ऋग्वेद सहिताओं के निर्माण काल और बौद्ध धर्म के उदय के मध्य का है।

ज्योतिष सम्बन्धी मत

पी० एल० वैद्य ने अपनी "हिस्ट्री आफ वैदिक लिट्रेचर" नामक पुस्तक में ब्राह्मण का रचनाकाल कुछ ज्योतिष सम्बन्धी प्रमाणों के आधार पर निर्धारित किया है। शतपथ ब्राह्मण में कृत्तिका नक्षत्र के ठीक पूर्व में उदय होने और वहाँ से प्रच्युत न होने का उल्लेख है। वर्त्तमान में कृत्तिकायें पूर्व बिन्दु से कुछ उत्तर की ओर हटकर उदित होती हैं। प्रसिद्ध ज्योतिषी शंकर बालकृष्ण दीक्षित की गणनानुसार यह घटना ३००१ ई० पू० की है। अतः ब्राह्मणों का प्रारम्भ इसी समय से माना जाना चाहिये। उधर मैत्रायणी उप-

निषद् का काल, ज्योतिषीय गणना के आधार पर १६०० ई० पू० है। अतः ब्राह्मणों का काल ३०००–२००० ई० पू० तक माना जाना चाहिए।

ब्राह्मणों की विषय वस्तु

शाबर भाष्य में ब्राह्मण के विषयों की विस्तार से परिगणना करके उसके निम्नलिखित दश पक्ष बतलाए हैं:—

हेतु निर्वचनं निन्दा प्रशंसा संशयो विधिः। परक्रिया पुराकल्पो व्यवधारणं कल्पना। उपमानं दर्शते हि विधयो ब्राह्मणस्य तु॥

वाचस्पति मिश्र ने भी नैरुक्त्य, प्रतिष्ठान, हेतु और विधि को ब्राह्मण का अंग कहा है। सामान्यतया ब्राह्मणों के प्रतिपाद्य विषय को दो प्रमुख श्रेणियों मे विभाजित किया जा सकता है। ये दो प्रमुख विभाग हैं—(१) विधि और (२) अर्थवाद।

विधि का अर्थ है नियम (rule or precept) और अर्थवाद का अर्थ है विधि के अर्थ की व्याख्या। ब्राह्मणों में पहिले व्यक्तिगत कृत्यों के सम्पादन के नियम दे दिए गये हैं और तत्पश्चात् यज्ञीय कृत्य के उद्देश्य और अर्थ सम्बन्धी विभिन्न व्याख्यायें एवं मन्त्रों की व्याख्यायें जोड़ दी गई हैं। मैक्डानल ने ब्राह्मणों की विषय वस्तु का एक तृतीय वर्ग भी माना है, जिसमें यज्ञीय वस्तुओं से सम्बन्धित दार्शनिक विचार एवं मननस्रोत हैं। विन्टर निट्ज इस तृतीय श्रेणी को भी द्वितीय श्रेणी के अन्तर्गत मानते हैं। इसका कारण है कि विन्टर निट्ज के मतानुसार यज्ञीय वस्तुओं का विचारात्मक विश्लेषण विधि के अर्थ अथवा व्याख्या के व्यापक दृष्टिकोण से अलग नहीं है। उपर्युक्त दो शीर्षकों के आधार पर विभिन्न उदाहरणों द्वारा ब्राह्मणों की विषय वस्तु सम्बन्धी धारणा पूर्णरूपेण स्पष्ट हो जाएगी—

१ विधि

विधि के अन्तर्गत यज्ञ सम्पादन की रीतियाँ एवं नियम आते हैं। उदाहरणार्थ ताण्ड्य ब्राह्मण में (१) बहिष् पवमान के लिए अध्वर्यु आदि

५ ऋत्विजों के मण्डलाकार प्रसर्पण का निर्देश दिया गया है। (२) ऋत्विजों को प्रसर्पण के समय शनैः शनैः चरण निक्षेप करना चाहिए तथा पूर्णतः मौन रहना चाहिये, (३) पाँचों ऋत्विजों में अध्वर्यु, प्रस्तोता, उद्गाता, प्रतिहर्ता तथा ब्रह्मा को एक दूसरे के पीछे इसी क्रम में पंक्ति बांधकर चलने का निर्देश है। पंक्ति के टूट जाने से अनेक हानि तथा अनर्थ की सम्भावना होती है। (४) इस समय ऋत्विज अपने हाथ में कुश लेकर चलता है।

विधि के साथ बहुधा हेतु का भी निर्देश कर दिया जाता है, जैसे उपर्युक्त तृतीय विधि में अनर्थ की सम्भावना मालाबद्ध प्रसर्पण का हेतु है। शतपथ ब्राह्मण की आदि कण्डिका में ही सहेतुक विधि का सुन्दर प्रयोग मिलता है। उदाहरण के लिये पौर्णमास्ययज्ञ या दर्शयज्ञ के लिये दीक्षित व्यक्ति प्रथम पूर्व दिशा में मुख करके, आहवनीय और गार्हपत्य अग्नियों के मध्य खड़ा होकर जल का स्पर्श करता है, यह विधि है। वह जल का स्पर्श क्यों करता है ? इसका हेतु इस प्रकार दिया गया है—

"अमेध्यो वै पुरुषः यदनृतं वदति तेन पूतिरन्ततः। मेध्या वा आपः। मेध्यो भूत्वा व्रतमुपायानीति। पवित्रं वा आपः। पवित्रपूतो व्रतमुपायानीति तस्माद्वा आपः उपस्पृशन्ति" (शतपथ ब्राह्मण)।

अर्थात् क्योंकि पुरुष असत्य बोलता है, अतः वह अपवित्र है। इसीलिये उसकी आन्तरिक पूति अथवा पवित्रता भी प्रभावित हो जाती है। जल पवित्र है, अतः उसका स्पर्श कर वह शुद्धान्तःकरण हो जाता है।

सामान्यतया यज्ञीय अनुष्ठान विधि के हेतु को लघुकथाओं के द्वारा व्यञ्जित किया गया है। बहिष् पवमान के लिये अध्वर्यु के दर्भ-मुष्टि होकर चलने का हेतु, ताण्ड्य ब्राह्मण में यज्ञ का अश्व रूप धारण करना, यज्ञ से भाग जाना तथा उसे दर्भ-मुष्टि दिखाकर लौटा लाना, आख्यान रूप में प्रस्तुत किया गया है।

'ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत' 'दीक्षितो नानृतं वदेन्न मांसमश्नीयान्न

स्त्रियमुपेयात्' आदि याज्ञिक विधि के अन्य उदाहरण हैं। इसके अतिरिक्त 'नाभ्रात्रीमुपयच्छेत्, जायाया अन्ते नाश्नीयात् (शतपथ ब्राह्मण) आदि व्यावहारिक विधि के उदाहरण हैं।

अर्थवाद

विधि की व्याख्या में मत मतान्तरों का उल्लेख और उसकी सम्यक् मीमांसा अर्थवाद के अन्तर्गत आती है।

शतपथ ब्राह्मण के प्रारम्भ में ही यज्ञ के प्रथम दिन दीक्षित व्यक्ति को भोजन करना चाहिए या नहीं, इसकी मीमांसा में मत मतान्तर उपस्थित किये गये हैं। यहाँ कतिपय मत-मतान्तरों का उल्लेख करना उपयुक्त होगा।

(१) आषाढ़ सावयस का मत था कि "उपवास में ही व्रत का अधिष्ठान है, क्योंकि इस उपवास करने वाले दीक्षित व्यक्ति के मन द्वारा देवता लोग यह जान लेते है कि यह व्यक्ति कल यज्ञ करेगा और इसीलिये देवता उसके घर आ जाते हैं। क्योंकि अतिथि के घर में रहते भोजन कर लेना अनुचित है। अतः दीक्षित व्यक्ति को भोजन नहीं करना चाहिये।

(२) दूसरी ओर याज्ञवल्क्य का विचार था कि यदि वह नहीं खाता है तो वह पितृ यज्ञाधिष्ठाता बन जाता है (क्योंकि पितृयज्ञ में उपवास का विधान है) और यदि वह खाता है, तो देवताओं के पहिले खाता है। अतः उसे ऐसी वस्तु खानी चाहिये जो न खाने के बराबर हो। ऐसी वस्तु का खाना जो देवताओं को नहीं दी जाती न खाने के बराबर है। अतः ऐसी वस्तु चाहिए जो वन में उत्पन्न हो। वह वन्य अन्न हो या वन्य फल।

इसी अर्थवाद के अन्तर्गत निन्दा, प्रशंसा, विनियोग और निरुक्ति आदि भी है। यज्ञ में निषिद्ध पदार्थों की अनेक स्थलों पर निन्दा पाई जाती है। उदाहरणार्थ—

'अमेध्यो वै पुरुषः' अथवा 'एतद्वाचश्छिद्रं यदनृतम्' या अमेध्यो वै पुरुषो यदनृतं वदति।'

इन वाक्यों में असत्य की निन्दा की गई है। इसके अतिरिक्त अनुष्ठानों, हव्य द्रव्यों, देवताओं तथा ब्राह्मणों की भूयसी प्रशंसा स्थान-स्थान पर मिलती है। उदाहरण के लिए—

'सर्वस्मात् पाप्मनो निर्मुच्यते य एवं विद्वानग्नि होत्रं जुहोति सर्वां ह वै पाप कृत्यां सर्वां ब्रह्महत्यामपहन्ति ये ऽश्वमेधेन यजते ये ब्राह्मणाः शुश्रूवांसो ऽनुचानास्ते। मनुष्य देवाः, आदि स्थलों में अग्निहोत्र, अश्वमेध एवं ब्राह्मणों की प्रशसा स्पष्ट परिलक्षित होती है। विनियोग तत्त्व भी अर्थवाद के प्रसंग में ब्राह्मणों का महत्त्व पूर्ण तत्त्व है। इसके अभाव में ब्राह्मणों की महत्ता आधी ही रह जाती। सहिताओं में केवल मंत्र संकलित हैं। इनका उपयोग कहाँ किस किस कृत्य में किस प्रकार और किस समय होना चाहिए, यह ब्राह्मणों का एक महत्त्वपूर्ण प्रतिपाद्य विषय है। यदि ब्राह्मणों में वेद मन्त्रों का उपयोग वर्णित न होता तो यदि ऋग्वेद को नहीं तो कम से कम शेष तीन वेदों को पूर्णतया समझना बड़ा कठिन होता। उदाहरण के लिये यजुर्वेद और अथर्ववेद को ले सकते हैं। शुक्ल यजुर्वेद को पढ़कर कोई नहीं कह सकता कि कौन मन्त्र किस यज्ञ में किस प्रकार प्रयुक्त किया जाय। परन्तु शतपथ ब्राह्मण के प्रथम प्रकाण्डों में प्रत्येक मन्त्र का उपयोग एवं उसके सम्बन्धित कृत्य आदि के वर्णन से प्राचीन यज्ञ परिपाटी का पूर्ण ज्ञान हो जाता है। अथर्ववेद के लिये तो इस विनियोग क्रम की और अधिक आवश्यकता है। कौन सा मन्त्र किस ऐन्द्रजालिक कृत्य के लिये है और उसका किस प्रकार उपयोग होता है? यह सब गोपथ ब्राह्मण से ही स्पष्ट होता है।

विनियोग कहीं-कहीं तो स्पष्ट हो जाता है परन्तु कहीं-कहीं मन्त्र और कृत्य का सम्बन्ध ऐच्छिक सा प्रतीत होता है। परन्तु ऐसे स्थलों पर भी ब्राह्मणों ने मन्त्र की आध्यात्मिक व्याख्या करके शङ्का के लिये स्थान नहीं छोड़ा है। उदाहरणार्थ ताण्ड्य ब्राह्मण में ऋग्वेद (३।६२।१६) के 'आ नो मित्रा वरुणा' मन्त्र का विनियोग जीर्ण रोगी के दुःख निवारण के लिये

बताया गया है। इस विषय में ब्राह्मण का कथन है कि दिन के देवता होने से मित्र प्राण के प्रतीक हैं और रात्रि के देवता होने से वरुण अपान के। अतः शरीर में मित्रावरुण के रहने की प्रार्थना प्राण और अपान के निवास की प्रार्थना का प्रतीक है।

निरुक्ति अथवा निर्वचन भी ब्राह्मणों का महत्त्व पूर्ण प्रतिपाद्य है। यज्ञीय कृत्यों के अनुष्ठान में जिन-जिन शब्दों का प्रयोग किया जाता है, उनमें संज्ञा शब्दों की बहुधा व्याख्या कर दी गई है। यदि किसी शब्द की व्युत्पत्ति बिल्कुल शुद्ध नहीं है, तो विशेष लाभ समझा जाता है, क्योंकि उनका मान्य सिद्धान्त है—

'परोक्ष प्रिया वै देवाः प्रत्यक्षद्विषः (गो० ब्राह्मण)।

इस सिद्धान्त के बल पर उन्होंने बड़ी-बड़ी विचित्र व्युत्पत्तियों को ढूंढ़ निकाला है। उदाहरण के लिये—

(१) इन्द्र शब्द इन्ध धातु से निष्पन्न होता है। इन्द्र का वास्तविक नाम इन्ध ही है। परन्तु क्योंकि देवता परोक्ष प्रिय होते हैं, अतः यह इन्द्र हो गया।

(२) इसी प्रकार उलूखल शब्द मूलतः उरुकरत् (चपटा कर देने वाला है। परन्तु क्योंकि देवता परोक्ष प्रिय होते हैं, इसलिये मूल के स्थान पर 'उलूखल' का प्रयोग किया जाता है।[1]

(३) वरुण का यह नाम राजा के वरण किये जाने से है—

तं वा एनं वरण सन्तं वरुण उच्याक्षते।

(४) दीक्षित शब्द मूलतः धीक्षित है। इस शब्द की अप्रत्यक्ष व्युत्पत्ति इस प्रकार हैं—

श्रेष्ठां धियं क्षिपतीति तं वा एनं धीक्षितं सन्तं दीक्षित इत्यूच्यते।"

---

(१) देखिये, विन्टर निट्ज, प्राचीन भारतीय साहित्य (हिन्दी अनु०) पृ० १६२।

ब्राह्मण काल तक व्याकरण का पूर्ण विकास नहीं हुआ था। अतः अधिक तर शब्द व्युत्पत्तियाँ ऐच्छिक हैं, परन्तु कुछ भाषा-विज्ञान की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण भी हैं, विशेषतः वे जो परवर्त्ती निरुक्त में उद्धृत हैं। ऐसी व्युत्पत्तियों का प्रारम्भ संहिताओं में ही देखा जा सकता है। तै० स० में दधि की तथा अथर्ववेद में उदक की व्युत्पत्ति ही गई है। ये सभी व्युत्पत्तियाँ धातु-प्रत्यय से कम ही सिद्ध की गई हैं। सम्भवतः शब्दों को धातुओं से बने होने का प्रमाण मान्य नहीं था।

अर्थवाद का एक अन्य महत्त्वपूर्ण अंश प्रतिकात्मकता और तद्रूपता (Symbolization and identification) है। ब्राह्मणों में भौतिक वस्तुओं का आधिदैविक और आध्यात्मिक महत्त्व बताया गया है। यज्ञ की लगभग प्रत्येक वस्तु एक विशेष महत्ता— पवित्रता और प्रतीकात्मकता से युक्त की गई है। अन्यथा सामान्य वस्तु और यज्ञ की वस्तुओं में अन्तर क्या रहता। यह प्रतीकात्मकता तथा तद्रूपता ब्राह्मणों में बड़े उपयोग की हैं। इतने उपयोग की यजुर्वेद में नहीं। एक दूसरे से नितान्त असदृश वस्तुएं भी यहाँ साथ-साथ रख दी जाती हैं और उन्हें सम्बद्ध कर दिया जाता है। ब्राह्मणों के प्रायः प्रत्येक पृष्ठ पर ऐसी व्याख्यायें प्राप्त होती हैं। उदाहरण के लिये शतपथ ब्राह्मण में एक यज्ञ के लिए अग्नि के चारों ओर दर्भ आस्तीर्ण करके ऋत्विक् दो दो की संख्या में १० यज्ञीय उपकरण लाता है। १० पद विराज् छन्द में होते हैं और यज्ञ भी दश उपकरणों के कारण विराज् (दीप्तिमान्) है। इस प्रकार यज्ञ और विराज् में एकता स्थापित हो जाती है। दो-दो करके इसलिए लाता है कि युग्म शक्ति का सूचक है। इसके अतिरिक्त मिथुन 'उत्पादक द्वित्व' का भी द्योतक है। अतः दो-दो साथ लाने से वह 'उत्पादक द्वित्व' भी सम्पन्न होता है।

(२) यज्ञ पुरुष है, क्योंकि पुरुष के द्वारा उसका सम्पादन होता है और उसकी लम्बाई भी पुरुष की लम्बाई के समान होती है।

(३) जुहू, ध्रुवा और उपभृत् (विशेष प्रकार के यज्ञीय चम्मच) पुरुषरूप

यज्ञ से सम्बन्धित हैं। ये चम्मच यज्ञ के मुख्य अंग हैं। अथवा यों कहिये कि तने के समान हैं। तने से विटपादि विकसित होते हैं। इसी प्रकार सम्पूर्ण यज्ञ स्रुवा से प्रस्फुटित होता है।

(४) स्रुवा (dipping spoon) प्राण का प्रतीक है। प्राण सभी अंगों के पास जाता है। अतः स्रुव भी सभी यज्ञीय स्रुकों के (स्त्री०) के पास जाता है।

तद्रूपता के अगणित उदाहरण दिये जा सकते हैं। शतपथ ब्राह्मण में यज्ञ को अनेक स्थलों पर विष्णु, आदित्य या प्रजापति से तद्रूप कहा गया है।

'एष वै प्रत्यक्षं यज्ञो यत् प्रजापतिः,' 'यज्ञो वै विष्णुः, स य यज्ञो ऽसौ आदित्यः।'

कहीं-कहीं अग्नि का ताद्रूप्य वर्ष से किया गया है, क्योंकि अग्नि वेदी बनाने में पूर्ण वर्ष लगता है। इस प्रकार के ताद्रूप्य मे संस्थानों (अङ्कों) की प्रतीकात्मकता महत्त्वपूर्ण है। उदाहरण के लिये शतपथ ब्राह्मण में चार ऋचाओं का उच्चारण कर वह कुछ राख उठाता है, क्योकि चतुष्पाद पशु होते है और पशु अग्नि के भोजन हैं। इस प्रकार (चार ऋचाओं को प्रतीकात्मकता के कारण) वह अग्नि को भोजन प्रदान करता है।

यत्र-तत्र तथा विध नीरस व्याख्यानों में तत्कालीन भौतिक विचारों और सामाजिक परिस्थितियों के विषय में रोचक तथ्य प्राप्त हो जाते हैं। उदाहरण के लिये शतपथ ब्राह्मण में वेदी की रचना की विधि इस प्रकार है कि वह पश्चिम की ओर चौड़ी, मध्य में पतली तथा पूर्व की ओर फिर कुछ चौड़ी होनी चाहिये, क्योंकि वेदी को देखकर देवता वैसे ही प्रसन्न हो जाते हैं, जैसे कि किसी सुन्दर स्त्री को देखकर पुरुषों का हृदय नाच उठता है। (शतपथ ब्राह्मण १।२।५।१६)।

इसी प्रकार वाजपेय यज्ञ में यज्ञ यूप से एक सीढ़ी लगादी जाती है। उस पर यजमान और उसकी पत्नी चढ़ते हैं। जब यजमान चढ़ने वाला होता है

तो अपनी पत्नी से कहता—आओ, अब हम स्वर्ग को चलें। पत्नी 'एवमस्तु' कहती है और फिर वह पत्नी के साथ ऊपर चढ़ता है। ऐसा वह इसलिए करता है कि पुरुष पत्नी के बिना अपूर्ण है। 'अथ अर्धो वा एष आत्मनः यत्पत्नी'। पुरुष स्त्री के बिना वंश परम्परा नहीं चला सकता। अतः पत्नी सहित पूर्ण होकर पुरुष को ऊपर चढ़ना चाहिये।

अपत्नीक पुरुष यज्ञ के योग्य नहीं है—"अयज्ञो वा एषः। योऽपत्नीकः।"

ये वाक्य निश्चय ही तत्कालीन स्त्री की सामाजिक दशा एवं यज्ञ में उसके समानाधिकार पर प्रकाश डालते हैं।

ब्राह्मणों में आये हुये अन्य कथन भी उस काल की सामाजिक स्थिति के सूचक हैं, जैसे—

'यो विभर्ति हिरण्यं स जीवेषु वृणुते दीर्घमायुः' 'न अपुत्रस्य लोकोऽस्ति। उत्तरवयसि पुत्रान् पितोपजीवति, श्रिया वा एतद्रूपं यत्पत्न्यः' नाश्रात्रीमुपयच्छेत्,' 'तस्मात् पुमांसः सभां यान्ति न स्त्रिय। अयज्ञो वो एष योऽपत्नीकः।

नैतिक विचारों के सम्बन्ध में हमारा विचार है कि यत्र-तत्र कतिपय स्थलों पर नैतिक विचारों का भी उल्लेख मिलता है। उदाहरण के लिथ देवासुर संग्राम में देवों की विजय और असुरों की पराजय सत्य, और असत्य की जय तथा पराजय हैं। इसके अतिरिक्त यथावसर ब्रह्मचर्य, अतिथि सत्कार और सद्व्यवहार के उपदेश भी मिलते हैं। इस प्रकार ब्राह्मणों में विकीर्ण रूप से उपलब्ध विभिन्न विधियां नीतिपरक हैं। उदाहरण के लिये—

'अमेध्यो वै पुरुषो यदनृतवदति' 'एतद्वाचश्छिद्रं यदनृतम्', 'तस्मात् सत्यमेव वदेत्', 'ऋतमिति सत्यम्' (शतपथ ब्राह्मण)।

आदि वाक्यों के अन्तर्गत नीतिपरकता पूर्णतया स्पष्ट है। आतिथ्य भी नीतिपरक नियमों के ही अन्तर्गत आता है। अतिथि महत्त्व को स्पष्ट हुए कहा गया है—

'शिरो वा एतद् यज्ञस्य यद् आतिथ्यम्', एवं चेदति श्रीन् वासयेत पार्थिवांल्लोकान् अभिजयति द्वितीयया अन्तरिक्ष्यान्...

इन नैतिक उपदेशों के अतिरिक्त ब्राह्मण ग्रन्थों में अनेक व्यवहारिक सूक्तियाँ भी मिलती हैं। उदाहरण के लिये—

'यो वै भवति यः श्रेष्ठामश्नुते तस्य वाचं प्रोदितां अनुप्रवदन्ति (ऐ० ब्रा०) 'वाचो वा इदं हि सर्वं प्रभवति', 'को मनुष्यस्य श्वो वेद', 'द्वितीयवान् हि वीर्यवान्'।

ब्राह्मणों में सर्वाधिक प्रेरणास्पद स्थल ऐतरेय ब्राह्मण का 'चरैवेति' वह सूक्त है, जिसमें निरन्तर परिश्रम करने का उपदेश दिया गया है। इस स्थल पर कहा गया है कि बैठने वाला पापी है। परिश्रमियों का सखा इन्द्र है। कर्म शील की समस्त आपत्तियाँ नष्ट हो जाती हैं। सोते हुए का भाग्य भी सो जाता है। बैठे हुये का भाग्य भी बैठा रहता है और चलने वाले का भाग्य चलने लगता है। सोता हुआ कलियुग है, बैठा हुआ द्वापर है, खड़ा हुआ व्यक्ति त्रेता और चलने वाला व्यक्ति सतयुग है।

अर्थवाद सम्बन्धी तत्त्वों में उपर्युक्त व्याख्याओं के अतिरिक्त एक रोचक तत्त्व भी है। इस तत्त्व में इतिहास और पुराण दोनों सम्मिलित हैं। ब्राह्मणों में उपलब्ध आख्यानों को कई कोटियों में बांटा जा सकता है—

१. वृहद् आख्यान

ये आख्यान किसी प्राचीन परम्परा पर आधारित है और किसी यज्ञ के प्रचलन सम्बन्धी वृहद् उद्देश्य अथवा विधि को समझाने के लिये ब्राह्मणों में इस प्रकार के आख्यानों का समावेश है, जैसे पुरुरवा और उर्वशी का आख्यान इसी प्रकार का आख्यान है, जिसका वर्णन शतपथ ब्राह्मण में एक विशेष प्रकार के यज्ञ के प्रसंग में किया गया है। इस यज्ञ के अनुष्ठान द्वारा मनुष्य गन्धर्व बन जाता है। इसका पूर्वरूप ऋग्वेद के सम्वाद सूक्त में मिलता है। किस प्रकार अप्सरा उर्वशी राजा पुरुरवा से प्रेम करती थी। राजा की पत्नी होने के समय किस प्रकार की शर्तें उर्वशी ने रक्खीं और किस प्रकार उर्वशी के लिये लालायित गन्धर्वों में राजा से एक शर्त भंग करवादी? उर्वशी धोखा

देकर चली जाती है। वियुक्त पुरुरवा इधर-उधर कुरुक्षेत्र में रोता भटकता फिरता है। अन्त में वह एक पद्म सरोवर पर पहुंचता है, जहाँ हंसी रूप में अप्सराएं जलक्रीड़ा कर रही थीं। उर्वशी और पुरुरवा का वार्तालाप होता है। दयार्द्र उर्वशी एक वर्ष के बाद केवल एक रात्रि के लिये सहवास का वचन देती है। राजा एक वर्ष के पश्चात् पहुंचता है। उर्वशी राजा को बतलाती है कि गन्धर्व तुम्हें कल प्रातः एक वर देंगे और उस समय तुम गन्धर्वत्व की याचना करना। राजा ने वैसा ही किया। तब गन्धर्वों ने उसे एक विशेष प्रकार का अग्निहोत्र करने का उपदेश दिया, जिसके करने से मर्त्य गन्धर्व हो जाता है।

शतपथ ब्राह्मण में एक जलौघ सम्बन्धी आख्यान भी है, जिसका मूल स्रोत अरब देश है। इच्छा नामक यज्ञीय दक्षिणा की व्याख्या के लिए इस आख्यान का अवतरण किया गया प्रतीत होता है। हाथ धोते समय मनु के हाथ में एक छोटी सी मछली आ गई। उसने मनु से अपने पालन की प्रार्थना की। मछली की प्रार्थनानुसार मनु ने उसको पाला और जब वह बड़ी हो गई तो मनु को मछली ने एक वर्ष पश्चात् होने वाले जलप्लावन की पहिले से सूचना दे दी। मछली ने मनु से एक नाव तैयार करने को कहा, जिसके द्वारा वह मनु को उस जलौघ से बचा लेगी। मछली को मनु ने समुद्र में छोड़ दिया। एक वर्ष के बाद प्रलय हुआ। पहिले से बनी नाव में मनु प्रविष्ट हुए। इसी समय मछली आती है और नाव को रस्सी से बाँधकर सींग द्वारा दूर हिमालय पर रख आती है। इस प्रकार मनु प्रलय के प्रकोप से बचे रहते हैं। जलौघ समाप्त होने पर मनु नीचे उतरते हैं और सन्तानोत्पत्ति के लिये यज्ञ करते हैं। इस यज्ञ से इला नामक स्त्री का जन्म हुआ जिसके द्वारा मानव परम्परा चल पड़ी। यही इला (इड़ा) नामक दक्षिणा की व्याख्या है।

उपर्युक्त दोनों आख्यान अपने गद्य की प्रकृति और उनमें प्रयुक्त गाथाओं की शैली और छन्द के कारण संहिताओं के निकट प्रतीत होते हैं।

ऐतरेय ब्राह्मण में एक ऐसा आख्यान है, जिसका आधार परम्परात्मक

है, परन्तु गद्य की प्रकृति गाथाओं की शैली एवं छन्द के कारण महाकाव्यों के निकट लगती है। यह आख्यान शुनः शेप के नाम से प्रसिद्ध है। राजसूय यज्ञ में राजा के पवित्र जल से शुद्ध होने के पश्चात् एक होता यह आख्यान सुनाता है। विदेह के राजा हरिश्चन्द्र के सौ रानियां थीं, परन्तु पुत्र एक भी नहीं था। एक दिन राजा के यहां नारद और पर्वत ऋषि आते हैं, जिनसे राजा पुत्र की महत्ता के विषय में प्रश्न करता है। नारद दश श्लोकों में प्रश्न का उत्तर देते है और राजा को वरुण से पुत्र प्रार्थना करने का परामर्श देते हैं। राजा वरुण से पुत्र की याचना करता है और प्रतिज्ञा करता है कि पुत्र का बलिदान करके वह उसकी (वरुण की) पूजा करेगा। पुत्र उत्पन्न होता है, परन्तु हरिश्चन्द्र उसके बलिदान को टालते जाते हैं। राजा हरिश्चन्द्र का पुत्र रोहित भाग जाता है, इधर हरिश्चन्द्र को जलोदर हो जाता है। हरिश्चन्द्र के जलोदर को सुनकर रोहित पांच बार घर पहुँचने का प्रयत्न करता है परन्तु इन्द्र उसे रोक देता है। छठे वर्ष वह क्षुधा कुल 'अजीगर्त' नामक ब्राह्मण से उसके मँझले पुत्र शुनः शेप को सौ गायों मे खरीद लेता है और नगर में आकर वरुण की इच्छा से उसकी बलि की तैयारी करता है। कोई व्यक्ति शुनः शेप को यज्ञ यूप से बांधने को तैयार नहीं हुआ। तब पुनः अजीगर्त आता है और दूसरी १०० गायों के बदले में अपने पुत्र को बलिदान के लिये यज्ञ यूप से बांधता है और अन्य १०० गायों के लोभ से उसे मारने को तैयार हो जाता है। शुन. शेप यह देखकर देवताओं की शरण लेता है। वह वैदिक विश्व देवों की स्तुति करता है। अन्त मे उषा की स्तुति के साथ उसकी शृङ्खलायें गिर जाती हैं और उधर हरिश्चन्द्र का जलोदर भी ठीक हो जाता है। इसके पश्चात् हरिश्चन्द्र का यज्ञीय होता विश्वामित्र शुनः शेप को अपना पुत्र बना लेता है।

उपाख्यान

उपर्युक्त आख्यानों के अतिरिक्त कुछ उपाख्यान भी हैं, जो यज्ञीय विधि विशेष को सार्थक बनाने के लिये कल्पित प्रतीत होते हैं। ये उपाख्यान भी

पर्याप्त रोचक हैं। शतपथ ब्राह्मण के अन्तर्गत इस प्रकार का एक आख्यान उदाहर्तव्य है। प्रजापति की आहुतियों में मन्त्र मन ही मन क्यों पढ़ा जाये, यह इस उपाख्यान का वर्ण्य है।

एक बार मन और वाक् में विवाद उत्पन्न हो गया। दोनों ही अपने आपको बड़ा कह रहे थे। मन ने अपने महत्त्व को स्पष्ठ करते हुए कहा कि वाणी वही बोलती है जो मैं सोचता हूँ। इसलिये मन ने कहा कि वाणी मेरा अनुकरण करने वाली है। परन्तु वाक् ने मन से कहा कि विचारों को अभिव्यक्त करने के कारण मैं तुम से श्रेष्ठ हूँ। दोनों निर्णय के लिये प्रजापति के पास गये। प्रजापति ने अनुकर्ता से अनुकार्य को श्रेष्ठ बतलाया। इस पर तिरस्कृत होकर वाणी ने प्रजापति से कहा कि क्योंकि आपने मेरे विरोध में निर्णय दिया है, अतः आपकी यज्ञ आहुतियां मैं कभी वहन नहीं करूंगी।

इसके अतिरिक्त वाक् अन्य कितने ही आख्यानों में उद्देश्य बनाई गई। सोमहरण के आख्यान में वाक् का वर्णन इस प्रकार है—गायत्री पक्षी के रूप में स्वर्ग से सोम लाई थी। परन्तु जैसे ही वह लाई, गन्धर्वों ने उससे सोम अपहृत कर लिया। परस्पर विचार विमर्श करने के पश्चात् देवताओं ने वाक् को गन्धर्वों के पास अमृत लाने के लिये भेजा। यह इसलिये कि गन्धर्व स्त्रियों के प्रेमी होते हैं। वाक् सोम लेकर देवताओं के पास वापस लौट आई। गन्धर्वों ने तब देवताओं से वाक् की याचना की। देवताओं ने कहा कि हम दोनों को विवाह के लिये वाक् से याचना करनी चाहिए। गन्धर्वों ने वेदों का पाठ किया और कहा कि देखो हम किस प्रकार यह जानते हैं। देवताओं ने एक वीणा का निर्माण किया और गाने बजाने लगे। वाक् संगीत की ओर आकृष्ट हो गई और देवताओं की ओर वह गई। आज भी स्त्रियाँ सङ्गीत की ओर सरलता से आकृष्ट होती देखी जाती हैं।

उपर्युक्त कथाओं के अतिरिक्त ब्राह्मणों में सृष्टि की उत्पत्ति के सम्बन्ध में अनेक कथायें मिलती हैं, जिनमें प्रमुख इस प्रकार हैं—

(अ) प्रजापति ने पहले पक्षियों तथा सरीसृपों को उत्पन्न किया, परन्तु भोजनाभाव से वे सब मर गये। तब प्रजापति ने विचार कर वनस्पति और स्तनधारी जन्तुओं की सृष्टि की।

(आ) सर्वप्रथम केवल जल ही था। वह प्रतप्त हुआ और उसमें एक हिरण्यगर्भ उत्पन्न हुआ। वह वर्ष भर पानी में तैरता रहा। उससे प्रजापति उत्पन्न हुए और उन्होंने मुख से देवताओं और श्वासों से राक्षसों को उत्पन्न किया।

(इ) एक कथा के अनुसार प्रजापति के मन से मनुष्य, आँख से घोड़े, श्वास से गाय, कान से भेड़ तथा ध्वनि से अजों की उत्पत्ति हुई।

(ई) एक अन्य कथा में कहा गया है कि प्रजापति ने पहिले ब्रह्म (वेद) को उत्पन्न किया। उनकी सहायता से उन्होंने एक हिरण्याण्ड को उत्पन्न किया, जिसका छिलका पृथ्वी बन गया। अण्डे से अग्नि उत्पन्न हुई। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि ब्रह्म, जिसका अर्थ कभी स्तुति था, ऐन्द्रजालिक मन्त्र था, बाद में वेद हो गया और यहां आकर उसे सम्पूर्ण प्राणियों का आधार बनाया गया। एक कदम और आगे शतपथ ब्राह्मण में ब्रह्मा से सम्पूर्ण विश्व की उत्पत्ति बतादी गई। आरम्भ में केवल ब्रह्म था, उसने सब देवताओं को उत्पन्न किया और तीन प्रमुख देवताओं — सूर्य, वायु, और अग्नि के निवास के लिये ३ लोक क्रमशः पृथ्वी, अन्तरिक्ष और स्वर्ग दिये गये।

ब्राह्मणों की पौराणिकता

ऊपर चर्चित हुई मनुष्यों और देवता सम्बन्धी कथाओं के अतिरिक्त ब्राह्मणों में अन्य प्रकार की कथायें भी हैं, जिनमें किसी वस्तु अथवा संस्था की उत्पत्ति एवं सृष्टि की उत्पत्ति से सम्बन्धित अनेकों कथायें हैं। ऐसी कहानियाँ पुराण के नाम से अभिहित होती हैं। इन पौराणिक कथाओं में भी कुछ कथायें ब्राह्मण कर्मकाण्डियों द्वारा आविष्कृत की गईं और कुछ अवश्य ही प्राचीन लोकप्रिय कथाओं पर आधारित हैं। द्वितीय कोटि में

सृष्टि सम्बन्धी कथायें आती हैं, जिनके लिये पुराण शब्द व्यवहृत होता है। इस प्रकार की पौराणिक कथाओं के कतिपय उदाहरण इस प्रकार हैं—

(१) प्रथम कोटि की कथाओं में रात्रि की उत्पत्ति की कथा रोचक है। जब यम मर गया था तो देवताओं ने उसकी बहिन यमी के मन से यम को भुला देने का प्रयास किया। उसने पुनः पुनः यही उत्तर दिया "अभी अभी तो वह मरा ही है" तब उन्होंने रात्रि की उत्पत्ति की, क्योंकि पहिले दिन ही दिन था। तब दूसरा दिन हुआ और यमी यम को भूल गई। इसी से कहते हैं कि रात्रि और दिन दुःखों को भूल जाने देते हैं। (मैं० ब्रा०)

(२) अग्नि और अग्निहोत्र से सृष्टि की उत्पत्ति की कथा दूसरी कोटि की है। सृष्टि के आरम्भ में प्रजापति ने मुख से अग्नि उत्पन्न की। उस समय अग्नि के खाने के लिये कुछ नहीं था, इसलिये वह प्रजापति की ओर लपकी। प्रजापति ने हाथों को रगड़कर घी और दूध उत्पन्न किया और उन्हें अग्नि में डाल दिया। इसके परिणामस्वरूप वृक्ष, सूर्य और वायु आदि देवता उत्पन्न हुए। इस प्रकार अग्निहोत्र के द्वारा एक ओर तो उन्होंने अपनी सन्तान का स्वास्थ्य बनाए रखा और दूसरी ओर अग्नि से अपनी रक्षा की।

आरण्यक और उपनिषत् साहित्य

यद्यपि कुछ लोग आरण्यकों और उपनिषदों की ब्राह्मणों से स्वतन्त्र सत्ता मानने के पक्ष में हैं, परन्तु उनकी सत्ता ब्राह्मणों के परिशिष्ट के रूप में ही मिलती है। अतः इन तीनों में सैद्धान्तिक वैषम्य होने पर भी, तीनों का यथा क्रम सहयोग उनके पारस्परिक सह-सम्बन्ध का संकेतक है। अतः तीनों को नितान्त स्वतन्त्र नहीं माना जा सकता। इसीलिये मैक्डोनल ने आरण्यक और उपनिषदों को उसी स्तर से सम्बद्ध बताया है जिससे ब्राह्मण सम्बद्ध हैं। उपनिषदों का ज्ञान ब्राह्मणों की प्रतिक्रिया का फल प्रतीत होता है। ऐसा प्रतीत होता है कि पुरोहित जब यज्ञादि कर्मकाण्ड पर अधिक बल देने लगा और यज्ञ को ही सब कुछ मानने लगा तो समाज के कुछ लोग (क्षत्रिय)

इस अतिशयता की कोटि पर पहुँचे हुए कर्मकाण्ड से घृणा करने लगे थे। समाज के इस वर्ग का इस बात में विश्वास न्यून हो चला था कि इस लोक में किये गये यज्ञादिक पुण्यकर्म उन्हें देवलोक या पितृ लोक में ले जायेंगे और वहाँ वे हर प्रकार के स्वर्गिक सुख का अनुभव करेंगे। दूसरे, सीमित पुण्यों का अवसान होने पर, उन पुण्यों का फल समाप्त होने पर उन्हें फिर इस लोक के दुःख भोगने पड़ेंगे, जिससे कि आत्यन्तिकी दुःख निवृत्ति असम्भव होगी। अतः जिस समय कि पुरोहित वर्ग कर्मकाण्ड में मस्त था, उस समय क्षत्रिय वर्ग ने आत्यन्तिक दुःख निवारण के उपाय पर चिन्तन एव मनन आरम्भ किया। इस चिन्तन मनन के अनुरूप उन्होंने उपाय भी ढूंढ़ निकाला और यह उपाय था ब्रह्मज्ञान या तत्वज्ञान। इस अन्वेषण के आधार पर इन की यह महती उपलब्धि थी कि ज्ञान मार्ग पर चलने से मनुष्य के सब दुःखों का निवारण इसी लोक में सम्भव है। यज्ञादि कर्मकाण्ड के द्वारा यह सम्भव नहीं है। इस प्रकार इन ज्ञान मार्ग के अनुयायियों को कर्मकाण्डियों से वादविवाद भी करना पड़ता था। इसका फल यह हुआ कि पुरोहितों का कर्मकाण्ड' ज्ञान मार्ग के सामने पराजित हो गया और जन-जन में संस्कारों के अनुरूप तत्त्व-ज्ञान प्राप्ति की कामना उत्पन्न होने लगी। समस्त उपनिषद् ब्रह्मज्ञान के जिज्ञासुओं की जिज्ञासा शान्त करने के लिये ब्रह्मज्ञानी ऋषियों के उपदेश हैं। ब्राह्मण लोग भी धीरे-धीरे ज्ञानमार्ग का महत्त्व समझने लगे और शिष्यों को ब्रह्मज्ञान का शिक्षण एवं उपदेश करने लगे। आजकल उपलब्ध उपनिषद् प्रमुख रूप से ब्रह्मज्ञानी ब्राह्मणों द्वारा अपने शिष्यों को दिये गये उपदेश हैं। उपनिषदों का यह नाम इसलिये पड़ा था कि इनमें वर्णित ज्ञान रहस्यात्मक था, प्रत्येक व्यक्ति इसका अधिकारी नहीं था।

कर्मकाण्डीय पुरोहितों ने ब्रह्मज्ञान को अङ्गीकार करते हुये भी कर्मकाण्ड को जीवित रखा। वर्ण व्यवस्था तो पहिले ही बन चुकी थी, इस समय इन्होंने वर्ण व्यवस्था के प्रतिपादन द्वारा वर्ण व्यवस्था के विरोधी ज्ञान मार्ग को भी ब्राह्मण धर्म में सम्मिलित कर लिया। वे कहने लगे कि मनुष्य को गृहस्थाश्रम

में यज्ञादिक पुण्यकृत्य करने ही चाहिये। वानप्रस्थ आश्रम में, वन में निवास करने के कारण वानप्रस्थी को यज्ञ को केन्द्र मानकर चिन्तन मनन करना चाहिये और अन्त में सन्यास आश्रम में यज्ञादि लौकिक कृत्यों को छोड़कर ब्रह्म विषयक चिन्तन एवं मनन करना चाहिये। यह आश्रम व्यवस्था सभी के द्वारा स्वीकार करली गई। वानप्रस्थ आश्रम में यज्ञ विषयक चिन्तन मनन के परिणामस्वरूप उन्ति ज्ञान का नाम आरण्यक इसीलिये रखा गया कि उसका प्रणयन स्थान अरण्य ही था।

जहाँ तक आरण्यकों और उपनिषदों के परस्पर सम्बन्ध की बात है, प्राचीन उपनिषदें यदि पूर्ण रूप से नहीं तो आंशिक रूप से आरण्यकों की ही अंश है। दोनों में विभाजक रेखा की स्थापना करना नितान्त असम्भव है। यह और उल्लेखनीय है कि ये ग्रन्थ वैदिक युग के अन्त की देन हैं और इनका आधार लेखादि न होकर गुरु शिष्य परम्परा है। प्रत्येक शाखा के अनुयायी ब्राह्मणों ने अपने-अपने ब्राह्मण के अन्त में ही अपनी शाखा के आरण्यक और उपनिषद् को क्रमानुसार जोड़ दिया। यही कारण है कि प्राचीन-प्रामाणिक उपनिषदे एवं आरण्यक ब्राह्मणों के परिशिष्ट रूप में ही मिलते हैं। उदाहरण के लिये ऐतरेय उपनिषद् यदि ऋग्वेद के ऐतरेय ब्राह्मण के अन्त में जुड़े ऐतरेय आरण्यक का परिशिष्ट है तो कौशीतकि उपनिषद् कौशीतकि ब्राह्मण से सम्बद्ध कौशीतकि आरण्यक का। इसी प्रकार कृष्ण यजुर्वेद का तैत्तिरीय आरण्यक तैत्तिरीय ब्राह्मण का ही विस्तृत रूप है जो तैत्तिरीय एवं महानारायणोपनिषद् के द्वारा पूर्ण होता है। इसी प्रकार शुक्ल यजुर्वेद से सम्बद्ध शतपथ ब्राह्मण की १४ वीं कण्डिका का पहला तृतीय भाग यदि आरण्यक है तो शेष भाग बृहदारण्यकोपनिषद् है। विन्टर निट्ज का कथन है कि छान्दोग्योपनिषद् जिसका प्रथम भाग एक आरण्यक है' कदाचित् ताण्ड्य ब्राह्मण का ही एक अंश है। जैमिनीय उपनिषद् सामवेद के जैमिनीय सम्प्रदाय का एक आरण्यक है। जैमिनीय को ही तलवकार भी कहते हैं। जैमिनीय उपनिषद् की पूर्णता केनोपनिषद् में सम्पन्न हुई है।

ऊपर हमने जिन उपनिषदों की चर्चा की है, वे सभी उपनिषत् काल की प्राचीनतम रचनायें हैं, केवल महानारायणोपनिषद् ही इसका अपवाद है। इन उपनिषदों पर ब्राह्मण कालीन भाषा-शैली का प्रभाव भी स्पष्ट है। इन उपनिषदों में विचारों की पुनरावृत्ति भी पर्याप्त रूप से मिलती है। बृहदारण्यकोपनिषद् एवं छान्दोग्योपनिषद् जैसी महान् आकारवाली उपनिषदें कई छोटी-छोटी उपनिषदों के एकत्र संगृहीत रूप प्रतीत होते हैं। वस्तुतः इन महान् आकारवाली उपनिषदों का बीजारोपण ब्राह्मण आरण्यक—काल के अन्तर्गत ही हो चुका था। बृहदारण्यक और छान्दोग्य के अतिरिक्त तैत्तिरीय, कौशीतकि और केनोपनिषद् प्राचीनतम उपनिषदें हैं। इनमें उपनिषद् दर्शन के प्रधान प्रतिपाद्य वेदान्त सिद्धान्तों के मूल रूप निहित हैं।

उपर्युक्त उपनिषदों के अतिरिक्त कुछ उपनिषदें ऐसी हैं जो पूर्णरूप से या फिर आंशिक रूप से पद्यात्मक हैं। इस प्रकार की उपनिषदों में कठोपनिषद्, श्वेताश्वतरोपनिषद्, महानारायणोपनिषद्, ईशावास्योपनिषद्, प्रश्नोपनिषद्, मैत्रायणी उपनिषद् हैं। कृष्ण यजुर्वेद से सम्बद्ध मैत्रायणी उपनिषद् और माण्डूक्योपनिषद् को छोड़कर उपर्युक्त अन्य सभी उपनिषदें बुद्ध पूर्वकाल की ही हैं। उपनिषदों की पृष्ठ भूमि पर अद्वैतवेदान्त की प्रतिष्ठा करने वाले आचार्य शङ्कर ने ब्रह्मसूत्र का भाष्य करते समय ऐतरेय, बृहदारण्यक, छान्दोग्य, तैत्तिरीय, कौशीतकि, केन, कठ, श्वेताश्वतर, महानारयण, ईश, मुण्डक तथा प्रश्नोपनिषद् को मौलिक घोषित किया है। इनमें मैत्रायणी तथा माण्डूक्योपनिषद् का उल्लेख नहीं है।

उपर्युक्त १४ उपनिषदों के अतिरिक्त जो उपनिषदें मिलती हैं, उनके सम्बन्ध में साम्प्रदायिक विद्वानों का तो यही मत है कि ये भी वैदिक ही हैं। इस सम्बन्ध में डा० विण्टर निट्ज का यह विचार सङ्गत नहीं प्रतीत होता कि वैदिक वाङ्मय से इन उपनिषदों का कई बार कोई सम्बन्ध नहीं होता। निश्चय ही उन उपनिषदों में दार्शनिकता के स्थान पर धार्मिकता एवं पौराणिकता अधिक है। परन्तु यह कहना सारहीन हीं होगा कि मूल वैदिक

साहित्य में धार्मिकता एवं पौराणिकता का अभाव है। धर्म और दर्शन दोनों ही वेदों के प्रतिपाद्य विषय हैं। इस प्रकार इन परवर्ती उपनिषदों का भी मूल वैदिक साहित्य से सम्बन्ध निश्चित है। इन परिवर्ती उपनिषदों की संख्या दो सौ से भी अधिक है। इन उपनिषदों में कुछ वेदान्त सिद्धान्तों का प्रतिपादन करती हैं तो कुछ योग सिद्धान्तों का। कुछ में संन्यास का महत्त्व वर्णित हुआ है तो कुछ में विष्णु से सम्बन्धित स्तुतियाँ मिलती हैं। इसी प्रकार कुछ उपनिषदें यदि शिव का स्तुतिगान करती हैं तो कतिपय उपनिषदें शाक्त, वैष्णव तथा अन्य लघु सम्प्रदायों के सिद्धान्तों का उल्लेख करती हैं।

उपनिषद् शब्द का अर्थ

उपनिषद् शब्द के अर्थ के सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद है। जहाँ तक उपनिषद् शब्द की व्युत्पत्ति का प्रश्न है, 'उप' और 'नि' उपसर्ग 'पूर्वक सद् धातु से क्विप् प्रत्यय लगने पर यह शब्द निष्पन्न हुआ है। सद् धातु के अर्थ विशरण (नाश होना), गति (प्राप्ति) तथा अवसादन (शिथिल होना) आदि अनेक हैं। शङ्कराचार्य ने तैत्तिरीयोपनिषद् के भाष्य में उक्त तीनों ही अर्थों की सङ्गति सिद्ध की है।

(१) सद् धातु के विशरण अर्थ की सङ्गति सिद्ध करते हुए शङ्कराचार्य ने कहा है—

अविद्यादेः संसारबीजस्य विशरणाद् विनाशनादित्यनेन अर्थयोगेन विद्या उपनिषदुच्यते।

अर्थात् उपनिषदों के अनुशीलन से अविद्यादि संसार बीज का विनाश होने के कारण ही इस विद्या को उपनिषद् कहते हैं।

(२) सद् धातु के प्राप्ति अर्थ के आधार पर शङ्कराचार्य ने उपनिषद् शब्द का अर्थ करते हुए कहा है—

"परं ब्रह्म वा गमयतीति ब्रह्म गमयितृत्वेन योगाद् ब्रह्म विद्योपनिषद्"

अर्थात् ब्रह्म की प्राप्ति कराने वाली होने के कारण ही ब्रह्म विद्या को उपनिषद् कहते हैं।

(३) सद्धातु के अवसादन अर्थ के आधार पर उपनिषद् शब्द का अर्थ करते हुये शङ्कराचार्य ने लिखा है—

गर्भवासजन्मजराद्युपद्रववृन्दस्य लोकान्तेरपौन: पुन्येन प्रवृत्तस्य अवसाद पितृत्वेन उपनिषदित्युच्यते ।

अर्थात् इनके द्वारा गर्भवास, जन्म एवं जरावस्था आदि के दुःख शिथिल पड़ जाते हैं ।

इसके अतिरिक्त शङ्कराचार्य ने उपनिषद् शब्द का मुख्यार्थ ब्रह्म विद्या एवं गौणार्थब्रह्मविद्याप्रतिपादक ग्रन्थ भी किया है ।

नि पूर्वक सद् धातु का अर्थ बैठना भी होता है । 'उप' उपसर्ग समीप का सूचक है । इस प्रकार उपनिषद् शब्द का अर्थ 'समीप बैठना' है । इस 'समीप में बैठने' की व्याख्या भी विद्वानों ने भिन्न-भिन्न प्रकार से की है—

१—एम० आर० बोदस (M. R. Bodas) का मत है कि उपनिषद् शब्द में 'सद्' का अर्थ 'अग्नि के समीप बैठना' है, क्योंकि उपनिषदों में निहित वार्तालाप बड़े-बड़े यज्ञों के अवसर पर हुआ करते थे ।

२—हार्वर (Harver) महोदय ने समाधि में निश्चल बैठने के भाव को उपनिषद् से सम्बद्ध बतलाते हुए इसका अर्थ तपस्या तथा ध्यान से प्राप्त रहस्यात्मक ज्ञान किया है ।

३—टीकाकार नारायण ने अपनी मनुस्मृति की टीका में उपनिषद् को वह ग्रन्थ कहा है जो शिष्य गुरु के समीप बैठकर पढ़े । वस्तुत: उपनिषद् शब्द का मूल और प्राचीनतम भाव था (किसी रहस्यपूर्ण ज्ञान की प्राप्ति के लिये) शिष्य का गुरु के समीप बैठना । आगे चलकर इसका अर्थ वह रहस्यात्मक ज्ञान हुआ जो शिष्य विश्वस्त रूप से गुरु के समीप बैठकर प्राप्त करते हों ।

सामान्य रूप से उपनिषद् का पर्याय 'रहस्य' कहा जाता है ।

जिसका अर्थ 'रहसि भवं' अर्थात् एकान्त में होने वाला है । स्वयं उपनिषदों में ही 'इति उपनिषद् इति रहस्यम्' आदि शब्दों का प्रयोग इन रहस्यात्मक सिद्धान्तों के लिए किया गया है ।

उपनिषदों में प्रायः इस प्रकार की चेतावनी पाई जाती है कि यह रहस्यात्मक विद्या किसी अपात्र को न दी जाए। छान्दोग्योपनिषद् में तो यहां तक कहा गया है—

'इदं तज्ज्येष्ठाय पुत्राय पिता ब्रह्म प्रब्रूयात्, प्रणाम्याय वान्ते वासिने। नान्यस्मै कस्मैचन.........इमामद्भिः परिगृहीतां धनस्य पूर्णां दद्यात्।'

अर्थात् उपनिषदों में एक ही नहीं अनेक स्थलों पर कहा गया है कि शिष्य के बार-बार आग्रह सहित प्रार्थना करने पर ही गुरु शिष्य को वाञ्छित रहस्यात्मक ज्ञान प्रदान करता है। यह तथ्य उपनिषद् को 'रहस्यात्मक' ज्ञान सिद्ध करने में सहायक होता है।

उपनिषद् शब्द के इस मूल अर्थ रहस्य के अनुसार प्राचीनतम उपनिषदों में बहुत से असम्बद्ध विषय मिलते हैं। इन रहस्यात्मक उपनिषदों का महत्व साधारण जन के लिए न होकर विशेष व्यक्तियों के लिए ही था।

सामान्य रूप से सभी प्राचीन उपनिषदों एवं विशेष रूप से अथर्ववैदिक उपनिषदों में उक्त रहस्यात्मक विषय एकत्रित पाते हैं। उदाहरण के लिए कौशीतकि उपनिषद् में मनोविज्ञान तथा तत्त्वज्ञान (Psychology and Metaphysics) के सिद्धान्तों तथा मृतक ज्ञान (Eschatology) के विस्तृत विवेचन के अतिरिक्त ऐसे यज्ञीय कृत्यों के उल्लेख मिलते हैं, जिन से कोई व्यक्ति मंगल प्राप्त कर सकता है मन्त्र, (मोहन मन्त्र) क्रियान्वित कर सकता है। इसके अतिरिक्त ऐसे उत्सवों के वर्णन मिलते हैं, जिनसे बाल-मृत्यु रोकी जा सकती है और अन्त में ऐसे रहस्य (उपनिषद्) का भी उल्लेख है जो शत्रु विनाशार्थ एक टोने का काम करता है।

इसी प्रकार छन्दोग्योपनिषद् में सृष्टि, जीव तथा जगत् विषय के गूढ़ विचारों के अतिरिक्त 'ओ३म्' विषयक रहस्यात्मक विचार और रोग निवारणादि विषयक रहस्यात्मक रीतियां वर्णित हैं।

अथर्ववैदिक उपनिषदों में गरुडोपनिषद् भी है, जो सर्प-[illegible] के

अतिरिक्त और कुछ नहीं है, जो बिना किसी कठिनाई के अथर्ववेद में सम्मिलित किया जा सकता है।

इस प्रकार उपनिषदों में केवल पाण्डित्यपूर्ण एवं गम्भीर दार्शनिक विचार धारा मात्र ही नहीं है, अपितु वे यथार्थमय लोक सामान्य तथ्य भी हैं, जिनका सम्बन्ध जीवन के विविध क्षेत्रों से है। किन्तु यह निश्चित है कि इन उपनिषदों का मूल प्रतिपाद्य दार्शनिक विचारधारा ही है। यहाँ उपनिषदों के दार्शनिक सिद्धान्तों के सम्बन्ध में विचार किया जाएगा।

उपनिषदों के प्रमुख दार्शनिक सिद्धान्त

सामान्य दृष्टि से यद्यपि सभी उपनिषदों का अपना निजी स्वरूप है, परन्तु सूक्ष्म दृष्टि से प्राचीन प्रामाणिक उपनिषदों में कुछ ऐसे दार्शनिक सिद्धान्तों का अन्तः प्रवाह मिलता है, जिनकी एकरूपता सर्वत्र बनी रहती है। उपनिषद् दर्शन से इसी प्रकार के दार्शनिक सिद्धान्तों का आशय है। परन्तु इससे हमें उपनिषदों के प्रत्येक अध्याय में गम्भीर दार्शनिक सिद्धान्तों की आशा नहीं करनी चाहिये। ब्राह्मणों के साथ हुए विद्वान् राजाओं के दार्शनिक वादों और विद्वानों के तर्कों एवं गुरुपदेशों में इन आधारभूत सिद्धान्तों की झांकी मिलती है। उपनिषदों की सर्वाधिक मूल्यवान् वस्तु ये ही आधार भूत सिद्धान्त हैं।

इन आधारभूत सिद्धान्तों में, जो सभी प्रामाणिक उपनिषयों में समान रूप से अनुस्यूत हैं, जगत् की ब्रह्मता और ब्रह्म की आत्मस्वरूपता के सिद्धान्त प्रमुख हैं। इस प्रकार उपनिषद् वर्णित दार्शनिकों का सम्पूर्ण चिन्तन मनन ब्रह्म और आत्मा सम्बन्धी विचारों पर केन्द्रित है। अतः यहाँ ब्रह्म और आत्मा सम्बन्धी विचारों को पृथक्-पृथक् स्पष्ट करना औचित्यपूर्ण होगा।

ब्रह्म शब्द का अर्थ

ब्रह्म की व्युत्पत्ति एवं अर्थ के सम्बन्ध में भारतीय एवं विदेशीय विद्वानों के भिन्न-भिन्न मत हैं। सामान्यतः ब्रह्म शब्द बृंह् (व्यापक होना) धातु से

निष्पन्न माना जाता है। इस प्रकार जो इतना व्यापक हो कि उसकी परिव्याप्ति सर्वत्र हो उसे ब्रह्म कहते हैं।

१. हैङ्ग का मत—

हैङ्ग (Hang) महोदय उपर्युक्त मत के ही समर्थक हैं।

२. ओल्डनवर्ग का मत—

ओल्डनवर्ग—(Oldenburg) तथा हिलेब्रॉ (Hillebrandt) महोदय इसका सम्बन्ध आयरलैण्ड की भाषा के Bricht शब्द से स्थापित करते हैं, जिसका अर्थ जादू और जादू मन्त्र है। परन्तु इन विद्वानों का यह दृष्टिकोण नितान्त सङ्कीर्ण प्रतीति होता है।

३. डा० दास गुप्त का मत—डा० दास गुप्त ने भी ब्रह्म शब्द का मूल अर्थ मन्त्र तथा यज्ञादि के सहकारित्व से उत्पन्न शक्ति माना है।

४ हर्टेल का मत—जे हर्टेल (J. Hertel) जैसे विद्वानों ने ब्रह्म शब्द का अर्थ अग्नि लेते हुए इसे लैटिन भाषा के Flagro और Qλexua से सम्बन्धित माना है।

५. जर्मन विद्वान् डायसन ने अपने सिस्टम आफ वेदान्त (System of Vedanta) नामक ग्रन्थ में ब्रह्म शब्द की व्याख्या करते हुए लिखा है—

The will of man, striving upwards to that which is sacred and divine.

अर्थात् मनुष्य की वह इच्छा ब्रह्म है जो पवित्र और वैदिक आलोक की ओर उन्मुख रहती है।

६. सेन्ट पीटर्स वर्ग डिक्शनरी के अनुसार ब्रह्मशब्द का अर्थ—

सेन्ट पीटर्स वर्ग डिक्शनरी के अन्तर्गत उस भक्ति को ब्रह्म कहा है जो आत्मा की लालसा और पूर्णता के साथ अभिव्यक्त होती है।

७. इन्साईक्लोपेडिया आफ रिलीजन एण्ड इथिक्स के अनुसार ब्रह्म शब्द का तात्पर्य—

इन्साईक्लोपेडिया आफ रिलीजन एण्ड इथिक्स के अन्तर्गत ब्रह्म शब्द के

आशय को स्पष्ट करते हुए कहा है—

It is, however, only the climax of a long intellectual development, the beginning of which may be traced in the Rigveda, the most ancient poetry of early India. And for the religious & philosophical history of that country, the word brahman possesses at least an equal significance with that of the term γόλos for Chri.tianity. There is contained in it, as Roth says, the religious development of India during thirty centuries.

इस कथन के अनुसार ब्रह्म शब्द भारतवर्ष के धार्मिक एवं दार्शनिक विकास की चरम परिणति का रूप है।

वेदों मे ब्रह्म शब्द ऋचा अथवा उपचार मन्त्र के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है, जिसमें डायसन आदि की भक्तिपरकता लेश भी नहीं है। बाद में इन ऋचाओं और उपचार मन्त्रों के सग्रह रूप संहिताओं को भी ब्रह्म कहा जाने लगा। ब्राह्मणों में यज्ञ को अधिमानवीय ही नहीं आधिदैविक कहा गया और ये यज्ञ क्योंकि मूलतः वेद या ब्रह्म प्रसूत थे, अतः ब्रह्म को ही सृष्टि के विकास में प्रथमज मानते हुए स्वयम्भू अर्थात् सृष्टि का कर्ता आदि कहा है। इस प्रकार दैवी सिद्धान्त होने के कारण ब्रह्म एक ऐसी धारणा है, जिसका सम्बन्ध पौरोहित्य दर्शन से है। इसीलिये प्रार्थनाओं और यज्ञ सम्बन्धी विचारों में यह धारणा सुसपष्ट रूप से समझ में आ जाती है। मैक्डानल के निम्न कथन में भी ब्रह्म शब्द के अर्थ की उक्त आशयता ही स्पष्ट होती है—

Having a long subsequent history, this word is the very epitome of the evolution of religious thought of india.

जहाँ तक उपनिषदों में ब्रह्म के प्रयोग और सिद्धान्त का प्रश्न है, उपनिषदों में ब्रह्म शब्द का प्रयोग सर्वव्यापी अद्वैत सत्य के रूप में किया गया है। उपनिषदों में ब्रह्म और जगत् के बीच भेद का निराकरण पूर्णरूपेण किया

1—Encyclopedia of Religions & Ethics Val I Page 796

गया है। कठोपनिषद् में उक्त विचार को स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि जो इस जगत् में भेद देखता है वह जन्म-मरण के बन्धन से मुक्त नहीं होता, परन्तु अद्वैत विद्या से बुद्धि के संस्कृत होने पर द्वैत दृष्टि का विनाश सम्भव हैं। (कठ० उप० २.१.११) इसके अतिरिक्त छन्दोग्योपनिषद् के अन्तर्गत श्वेतकेतु और उनके पिता आरुणि के सम्वाद में भी ब्रह्म एवं नामरूपात्मक जगत् की एकरूपता का स्पष्ट विचार मिलता है। जब बारह वर्ष के पश्चात् श्वेतकेतु विद्या अध्ययन करके अपने पिता आरुणि के पास पहुंचे तो वे बड़े गर्वित एव सन्तुष्ट थे और अपने आपको विद्वान् समझ रहे थे। पिता आरुणि ने श्वेतकेतु से पूछा कि क्या तुमने अपने गुरु से वह शिक्षा प्राप्त करली है, जिसके प्राप्त कर लेने पर अश्रुत-श्रुत, अचिन्तित-चिन्तित एवं अज्ञान-ज्ञान हो जाता है। पिता के उक्त वचनों को सुनकर श्वेतकेतु ने अपनी अज्ञानता स्वीकार की और पिता से अपनी जिज्ञासा प्रकट की। तब पिता आरुणि ने श्वेतकेतु को समझाते हुए कहा कि एक मृत् पिण्ड का ज्ञान होने पर सारे मृण्मय पदार्थों का ज्ञान हो जाता है, सुवर्ण पिण्ड का ज्ञान होने पर सुवर्ण जन्य-अन्य कुण्डलादि विकारों का ज्ञान हो जाता है और जिस प्रकार निहन्ने का ज्ञान होने पर सारे लौह-निर्मित पदार्थों का ज्ञान हो जाता है, क्योंकि मृत्तिका, सुवर्ण एवं लोह के विभिन्न विकार नाम मात्र के तथा वाचारम्भण मात्र हैं। (वृ० उप० २।४।६-९) इसी प्रकार जगत् की सत्ता ब्रह्म से पृथक् न होकर सारा जगत् ब्रह्म का ही रूप है। यही विचार वृहदारण्यकोपनिषद् में भी मिलता है (वृ० उप० २।४।६-९) वृहदारण्यकोपनिषद् में याज्ञवल्क्य अपनी पत्नी मैत्रेयी से कहते हैं कि ब्राह्मणत्व, क्षत्रियत्व, समस्तलोक, सहस्त्र-देवता, समस्त भूत, यह सब आत्मा का ही स्वरूप है[1]। इसके अतिरिक्त तैत्तिरीय उपनिषद् में ब्रह्म की जो परिभाषा मिलती है वह भी पूर्णतया अद्वैत मत की ही समर्थक है। तैत्तिरीय उपनिषद् के अन्तर्गत वरुण अपने पुत्र भृगु से ब्रह्म के स्वरूप की ओर सङ्केत करते हुए कहते हैं कि जिससे

देखिए—(वृ० उप० ४।२।६)

समस्त भूत उत्पन्न होते हैं, जिसमें उत्पन्न होकर जीवित रहते हैं और मृत्यु होने पर जिसमें प्रवेश करते हैं उसी को जानने की इच्छा करो वही ब्रह्म है। (कठ० उप० २।३।१) तैत्तिरीय उपनिषद् के उक्त उदाहरण में अद्वैत वेदान्त सम्मत ब्रह्म की अधिष्ठानता के पूर्ण लक्षण मिलते हैं। जगत् रूप अध्यास ब्रह्मरूप अधिष्ठान में अविद्या से उत्पन्न होता है और अविद्या निवृत्ति होने पर अध्यास भी नष्ट हो जाता है। कठोपनिषद्[1] मे अश्वत्थ वृक्ष के माध्यम से ब्रह्म के स्वरूप का वर्णन करते हुये कहा है कि यह सनातन अश्वत्थ अर्ध्व-मूल एवं अवाक्शाख है। वही शुद्ध, शुभ्र ब्रह्म एवं अमृतरूप है। समस्त लोक उसी में आश्रित हैं। उस ब्रह्म के अतिरिक्त और कुछ रूप नहीं है। यहां अश्वत्थ वृक्ष से संसार रूप वृक्ष की ओर संकेत किया गया है और ब्रह्म से उसके मूल का।[2] यहाँ भी ब्रह्म के अद्वैत एवं अधिष्ठान रूप का चित्रण स्पष्ट ही है।

उपर्युक्त विवेचन के अतिरिक्त उपनिषदों में ब्राह्मण के स्वरूप का निर्देशन अनेक रूपों में मिलता है। यहाँ उनमें से कतिपय विशिष्ट स्वरूपों का उल्लेख किया जायेगा।

(१) सत् एवं असतरूप में ब्रह्म वर्णन—

बृहदारण्यकोपनिषद् के अन्तर्गत ब्रह्म का वर्णन सत् एवं असत् दोनों रूपों में किया गया है।[3]

---

१. कठ० उप० २।३।१

२. यदस्य संसार वृक्षस्य मूलं तदेवं शुक्रं शुभ्रं शुद्धं ज्योतिष्मच्चैतथात्म ज्योतिः स्वभावं तदेव ब्रह्म सर्वमहत्त्वात्। शाङ्करभाष्य, क० उप० २।३।१

३. द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे मूर्त्तं चैवामूर्त्तं च मर्त्यं चामृतं च स्थितं च यच्च सच्चत्यच्च (बृ० उप० २।३१)

(२) ब्रह्म का चित् रूप में वर्णन

ब्रह्म का चिद विशेषण उसकी ज्ञानमयता एवं प्रकाशमयता का द्योतक है। ब्रह्म ज्ञान एवं प्रकाश रूप है। इसीलिये बृहदारण्यक उपनिषद् में ब्रह्म को 'ज्योतिषां ज्योतिः' (बृ० उ० ४।४।१६) कहा गया है।

बृहदारण्यक में ही एक स्थल पर परम तत्त्व को सत्-चित् एवं आनन्द से पूर्ण कहा है। (बृ० उ० २।४।१२)

(३) आनन्द रूप में किया गया ब्रह्म वर्णन—

आनन्दवादी अद्वैत दर्शन में ब्रह्म को आनन्द स्वरूप कहा है। छान्दोग्योपनिषद् में ब्रह्मबोध की स्थिति को आनन्द का ही रूप कहा है। (छा० उ० ७।२३)

(४) देशातीत ब्रह्म का वर्णन—

उपनिषदों में ब्रह्म को देशादि की सीमा से अतीत कहा है। याज्ञवल्क्य गार्गी को ब्रह्म का स्वरूप बतलाते हुए कहते हैं कि हे गार्गी ! जिसमें सब ओतः प्रोत हैं, वह अविनाशी है, वह न स्थूल है, न सूक्ष्म है, न छोटा है, न बड़ा है, न वह लोहित है और न वह सां ारिक जीव की तरह स्नेह वाला है। वह आवरण रहित, तमरहित, वायु र हत, स्वाद रहित, गन्ध रहित, श्रोत्र-रहित, वाणी रहित, मन रहित, तेज रहित, प्राण रहित मुख रहित, नेत्ररहित, परिमाण रहित, अन्तर रहित तथा बाह्य हित है। न वह कुछ खाता है और न कोई उसको खाता है। इस प्रकार उक्त विवेचन में ब्रह्म का देशातीत स्पष्ट रूप से वर्णित हुआ है।[1]

आत्मा शब्द का अर्थ और सिद्धान्त

आत्मा शब्द का इतिहास अपेक्षतः सरल है। परन्तु व्युत्पत्ति आत्मा शब्द की भी अनिश्चित सी ही है। मैकडोनल आदि कुछ पाश्चात्य विद्वान् आत्मा शब्द को 'अन्' धातु से निष्पन्न मानते हैं, जिसका अर्थ प्राण या श्वास है।

---

१. (बृ० उप० ३।८।८)

मैक्डोनल का मत है कि ऋग्वेद में आत्मा का अर्थ और कुछ नहीं है। ब्राह्मणों में आत्मा का अर्थ 'आत्मा' या 'जीव' लिया गया है। डायसन जैसे दूसरे विद्वान् आत्मा शब्द को द्विसर्वनाम्नीय धातु से निष्पन्न मानते हैं और इसका मूल अर्थ करते हैं—'यऽमे' (अयं अहम्)। विन्टर निट्ज का विचार है कि आत्मा एक दार्शनिक परिभाषा ही नहीं है, वरन् वह एक ऐसा शब्द है जो संस्कृत में अत्यधिक प्रयुक्त होता है और उसका अर्थ पूर्णरूपेण स्पष्ट है। आत्मा निज का वाचक है और निजवाचक सर्वनाम के रूप में इसका प्रयोग भी होता है। स्वतन्त्र पद के रूप में इसका अर्थ है – अपना निजी व्यक्तित्व, जो अतिरिक्त संसार से अलग है। दर्शन मे इसका आशय उस चेतन तत्त्व से है जो शेष शरीर से अतिरिक्त है। डायसन महोदय ने आत्मा के सम्बन्ध मे कहा है—

"This is the most abstract and therefore the best name which philosophy has found for its sole and eternal theme".

अर्थात् आत्मा शब्द नितान्त भाव रूप और इसीलिये दर्शन द्वारा अपने पूर्ण एव शाश्वत उद्देश्य के लिये यह एक सुन्दरतम नाम है।

मेरे विचार से आत्मा एक ऐसा सर्वव्यापी भावात्मक एवं शाश्वत सत्य है जो सूक्ष्म से सूक्ष्म और विशाल से भी विशाल है। उपनिषदों में आत्म तत्त्व का विवेचन विभिन्न रूपों मे किया गया है।

'तत्त्वमसि'

उपनिषदों में आकर ब्रह्म और आत्मा की दोनों धारणायें मिलकर एक हो गई हैं। मैक्डानल तो यहाँ तक कहते हैं—

These two conceptions, Atman and Brahman are commonly treated as Synonymous in the Upanishads.

अर्थात् उपनिषदों में आत्मा और ब्रह्म सम्बन्धी सिद्धान्त पर्याप्त रूप में प्रयुक्त हुये हैं।

आत्मा और ब्रह्म के इस ऐक्य का प्रतिपादन छान्दोग्योपनिषद में 'तत्त्वमसि' सिद्धान्त के रूप में अधिक प्रभाव पूर्ण ढंग से किया गया है। इस सम्बन्ध में छान्दोग्योपनिषद् में कहा गया है—

'स यु एषोऽणिमैतदात्म्यमिदं सर्वं तत्सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो'

अर्थात् सम्पूर्ण जगत् आत्मा है, वही सत्य है, वही आत्मा हे श्वेतकेतो ! तुम हो।

उपनिषदों में तत्त्वमसि को बड़े विस्तार से समझाया गया है। इसके अन्तर्गत सर्वप्रथम 'सर्वं खल्विदं-ब्रह्म' के सिद्धान्त का विशद् व्याख्यान किया गया है। इस सिद्धान्त के अनुसार सम्पूर्ण जगत् ब्रह्म का नाममात्र विकार है। जब सृष्टि के आदि में ब्रह्म के अतिरिक्त कुछ नहीं था तो अब उसके अतिरिक्त कुछ कैसे हो सकता है ? जैसे मृत्तिका ही सत्य है और उससे बने पात्र केवल नाममात्र के विकार हैं, उसी प्रकार एकमात्र ब्रह्म ही सत्य है और समस्त नामरूपात्मक जगत् मिथ्या है।

एक आत्मा ही सर्वव्यापी तत्त्व है।

"यथाग्नेः क्षुद्राः विस्फुलिंगा व्युच्चरन्ति एवमेवास्मादात्मनः सर्वे प्राणाः सर्वे लोकाः सर्वे देवाः सर्वाणि भूतानि व्युच्चरन्ति । एको देवः सर्वभूतेषुगूढः सर्वव्यापी सर्वं भूतान्तरात्मा"

छान्दोग्य में आरुणि ने श्वेतकेतु को आत्मा के स्वरूप के सम्बन्ध में समझाते हुये कहा है कि आत्मा के दर्शन चर्म चक्षुओं के द्वारा सम्भव नहीं हैं। उसकी स्थिति पानी में घुले नमक की तरह है। जिस प्रकार नमक जल में व्याप्त रहता है, उसी प्रकार आत्मा भी सर्वत्र अन्तर्व्याप्त है।

———

षष्ठ अध्याय

वेदाङ्ग—साहित्य

सूत्र-साहित्य

अब तक जिस वैदिक साहित्य का उल्लेख किया गया है, भारतीय परम्परा द्वारा उसे श्रुति के रूप में स्वीकार किया गया है। भारतीयों का यह परम्परात्मक विश्वास है कि प्राचीनतम ऋग्वेद से लेकर उपनिषदों तक का प्रत्येक शब्द ब्रह्म का निःश्वास है, दैवी प्रकाश है, जिसका प्रत्यक्ष या श्रवण मन्त्र द्रष्टा ऋषियों ने किया था। अतः उनकी श्रुति संज्ञा अन्वर्थ है। श्रुति के अन्तर्गत आने वाले संहिता ग्रन्थों और उनसे सम्बन्धित ब्राह्मणादि ग्रन्थों को ही 'वेद' माना जाता है। परन्तु वैदिक साहित्य की सीमा यहीं समाप्त नहीं होती। श्रुति के अतिरिक्त ग्रन्थों का एक अन्य वर्ग है, जिसे भारतीय परम्परा से स्मृति कहा जाता है। 'स्मृति' का श्रुति से घनिष्ठ सम्बन्ध होते हुये भी उसे वेद के अन्तर्गत नहीं माना जाता। समस्त सूत्र साहित्य स्मृति के अन्तर्गत है। उसी को वेदाङ्ग भी कहते हैं। वैदिक साहित्य की यह तृतीय श्रेणी है, जिसे मैक्डानल तृतीय स्तर सम्बन्ध मानते हैं। कीजी (Kaeiji) महोदय ने तो लिखा है—

"The third and youngest stage of Vedic literature is the Vedång, also called Sutra. Life in Ancient India".

इस साहित्य का नाम सूत्र साहित्य इसलिए उचित है कि इसमें सूत्रशैली का आश्रय लिया गया है। 'वेद' का शरीर इतना दीर्घ हो गया था कि

मौखिक परम्परा द्वारा उसका सञ्चालन और संरक्षण कठिन हो गया था। ऐसी अवस्था में किसी ऐसे उपाय की आवश्यकता थी, जिसके द्वारा अधिकतम बात सूक्ष्मतम वाक्यों में कह दी जाय, जिससे स्मरण रखने में भी सुविधा रहे और वेद की रक्षा भी समग्र रूप से हो जाय। वेदाङ्ग अथवा सूत्रसाहित्य के अन्तर्गत गिना जाने वाला साहित्य पूर्णतया इसी शैली में लिखा गया है। परम्परा से वेदाङ्गों के नाम और क्रम इस प्रकार हैं—

(१) शिक्षा, (२) छन्द, (३) व्याकरण, (४) निरुक्त, (५) कल्प, (६) ज्योतिष। इन छः वेदाङ्गों में प्रथम चार—शिक्षा, छन्द, व्याकरण और निरुक्त, वेद सम्बन्धी अध्ययन और बोध से सम्बन्धित हैं और अन्तिम दो अर्थात् कल्प और ज्योतिष यज्ञ एवं यज्ञ काल से सम्बन्धित हैं। वेदांगों के जो उक्त नाम दिये गये हैं वे किन्हीं छः ग्रन्थों के नाममात्र नहीं हैं, वरन् छः विधायें हैं, जिनके अन्तर्गत बहुत से ग्रन्थ आते हैं। यहाँ यह विशेषरूप से ज्ञातव्य है कि प्रारम्भ के चारवेदाङ्ग (शिक्षा, छन्द, व्याकरण और निरुक्त) ब्राह्मणादि ग्रन्थों की तरह प्रत्येक शाखा की संहिता के अपने-अपने नहीं हैं, और यही बात ज्योतिष के विषय में भी सत्य है। हाँ, कल्प के अन्तर्गत आने वाला साहित्य प्रत्येक शाखा का अलग-अलग है। इस कल्प नामक वेदाङ्ग के अन्तर्गत निम्न प्रकार के ग्रन्थ आते हैं।

(१) श्रौतसूत्र—

श्रौतसूत्र 'कल्प' वेदाङ्ग के उस भेद का नाम है, जिसमें अनेक पुरोहितों द्वारा सम्पन्न होने वाले यज्ञों के विधि-विधान सूत्रीकृत हैं। इस प्रकार के यज्ञों में तीन अथवा अधिक पवित्र अग्नियों का आधान होता था। इन सूत्रों का नाम 'श्रौत' इसलिये रखा गया कि उनका प्रतिपाद्यविषय श्रुति (ब्राह्मण) सम्मत यज्ञ सम्बन्धी अनुष्ठान थे। श्रौतसूत्र कोई एक स्वतन्त्र ग्रन्थ नहीं है, वरन् सूत्र ग्रन्थों का एक प्रकार है। विभिन्न वैदिक शाखाओं के मूलतः अपने-अपने श्रौतसूत्र थे, जिनका विषय अपनी ही शाखा के ब्राह्मण के अनुसार था।

(२) गृह्यसूत्र—

'कल्प' वेदाङ्ग का द्वितीय वर्ग गृह्य सूत्र है। इस वर्ग के अन्तर्गत वे सूत्र ग्रन्थ आते हैं, जिनमें स्वयं गृहस्थ के द्वारा बिना पुरोहित के सम्पादित होने वाले सरल दैनिक यज्ञों के विधि विधानों का प्रतिपादन है। गृह्यसूत्र भी कोई एक ग्रन्थ नहीं है, प्रत्येक शास्त्र का अपना-अपना गृह्यसूत्र भी था।

(३) धर्मसूत्र—

इस वर्ग के अन्तर्गत वे धर्मसूत्र आते हैं, जिन्हें भारतीय विधि शास्त्र का प्राचीनतम स्रोत कहा जाता है। इनका प्रतिपादित विषय शुद्ध धार्मिक है। पिता, पुत्र, गुरु, माता राजा इत्यादि के क्या क्या धर्म हैं, इन सबका विशद उल्लेख धर्मसूत्रों में किया गया है। धर्मसूत्र भी प्रत्येक शाखा के अलग-अलग होते थे।

(४) शुल्वसूत्र—

'कल्प' वेदाङ्ग की चतुर्थ विधा शुल्वसूत्र है। इसमें यज्ञ वेदी की रचना, परिमाण आदि से सम्बन्धित सूत्रों का विधान किया गया है। शुल्व सूत्रों को भारतीय रेखागणित का प्रारम्भिक रूप कहा जा सकता है।

श्रौतसूत्र

श्रौतसूत्रों में प्रतिपादित यज्ञों का विधान, गृह्यसूत्रों में प्रतिपादित यज्ञों के विधान की अपेक्षा जटिल है। श्रौतसूत्रों में विवेचित यज्ञों के विधान के लिये जितने अधिक पुरोहितों एवं आचार्यों की आवश्यकता पड़ती है, उतनी गृह्यसूत्रों में प्रतिपादित यज्ञों के विधान के लिये नहीं। यहां कतिपय श्रौतसूत्रों के सम्बन्ध में संक्षेप में विचार किया जायेगा।

आश्वलायन श्रौतसूत्र

आश्वलायन श्रौतसूत्र ऋग्वेद से सम्बन्धित है। यह श्रौतसूत्र द्वादश अध्याय सम्पन्न है। इस श्रौतसूत्र पर गार्ग्यनारायण की वृत्ति मिलती है।

आश्वलायन श्रौतसूत्र में वैदिक यज्ञों के सम्बन्ध में विवाद विवेचन किया गया है। आश्वलायन श्रौतसूत्र के वर्ण्य विषय का आधार प्रमुखरूप से ऐतरेय आरण्यक का यज्ञ सम्बन्धी विवेचन है।

शाङ्खायन श्रौतसूत्र[1]

शाङ्खायन श्रौतसूत्र भी ऋग्वेदीय ही है। यह श्रौतसूत्र अष्टादश अध्याय सम्पन्न है। इस श्रौतसूत्र के अन्तर्गत दर्शपूर्णमास, वाजपेय, राजसूय, अश्व-मेध, पुरुषमेध तथा सर्वमेध यज्ञों का विवरण उपलब्ध होता है। शाङ्खायन श्रौतसूत्र के कुछ उत्तर भाग को छोड़कर इसकी भाषा-शैली ब्राह्मण ग्रन्थों के समान है।

कात्यायन श्रौतसूत्र

शुक्लयजुर्वेदीय कात्यायन श्रौतसूत्र मध्यान्दिनी शाखा से सम्बन्धित है। इस श्रौतसूत्र के अन्तर्गत २६ अध्याय हैं। कात्यायन श्रौतसूत्र पर कर्काचार्य का भाष्य है। इसमें श्रौत्रामणि, अश्वमेध, नरमेध, सर्वमेध आदि यज्ञों का विवेचन किया गया है।

बौधायन श्रौतसूत्र

यह श्रौतसूत्र कृष्ण यजुर्वेदीय है। बौधायन श्रौतसूत्र में १९ अध्याय हैं। डा० कौलेण्ड ने इस श्रौतसूत्र का सम्पादन किया है। बौधायन श्रौतसूत्र पर गोविन्द स्वामी का भी भाष्य उपलब्ध है।

आपस्तम्ब श्रौतसूत्र

इस श्रौतसूत्र में २४ प्रश्न हैं। आपस्तम्ब श्रौतसूत्र विशेषतया तैत्तिरीय ब्राह्मण से सम्बन्ध है। इस श्रौतसूत्र के अन्तर्गत ब्राह्मण सम्बन्धी यज्ञों का यथापेक्षित विवेचन किया गया है।

---

१. बाइब्लोथिका इण्डिका में प्रकाशित।

लाट्यायन श्रौतसूत्र

यह श्रौतसूत्र सामवेदीय है। लाट्यायन श्रौतसूत्र का सम्बन्ध सामवेद की कौथुम शाखा से है। लाट्यायन श्रौतसूत्र में ही मशक कल्प सूत्र का भी संकेत मिलता है।

द्राह्यायण श्रौतसूत्र

यह भी सामवेदीय श्रौतसूत्र ही है। द्राह्यायण श्रौतसूत्र का सम्बन्ध राणायनीय शाखा से है।

जैमिनीय श्रौतसूत्र

जैमिनीय श्रौतसूत्र का सम्बन्ध जैमिनि शाखा से है।

वैतान श्रौतसूत्र

वैतान श्रौतसूत्र अथर्ववेदीय है। इस श्रौतसूत्र की प्राचीनता एवं प्रामाणिकता सिद्ध नहीं है। चिन्तामणि वैद्य ने वैतान श्रौतसूत्र का रचना काल २००० ई० पू० स्वीकार किया है। वैतान श्रौतसूत्र पर गोपथ ब्राह्मण एवं कात्यायन कल्पसूत्र का प्रभाव स्पष्ट दिखाई पड़ता है।

गृह्य सूत्र

गृह्य सूत्रों के अन्तर्गत जैसाकि कहा जा चुका है, गृह में सम्पन्न होने वाले धार्मिक कृत्यों का वर्णन है। गृह्य सूत्रों में गर्भाधान, पुंसवन, सीमन्तोन्नयन, जात कर्म, नामकरण, निष्क्रामण, अन्नप्राशन, चूडाकरण, उपनयन, वेदाध्ययन काल के महानाम्नी व्रत, महाव्रत, उपनिषद् व्रत, गोदान व्रत, समावर्तन, विवाह और अन्त्येष्टि इन षोडश संस्कारों का वर्णन किया गया है। यह वर्णन धर्म सूत्रों में भी उपलब्ध है। इसके अतिरिक्त सात प्रकार के गृह्य यज्ञों का वर्णन भी गृह्यसूत्रों में उपलब्ध होता है। ये गृह्य यज्ञ—पितृयज्ञ, पार्वण यज्ञ (पूर्णिमा या अमावस्या को सम्पन्न होने वाला यज्ञ) अष्टक यज्ञ, श्रावणी

यज्ञ, आश्वयुजी यज्ञ (आश्विन में सम्पन्न होने वाला यज्ञ), आग्रहायणी यज्ञ और चैत्री यज्ञ (चैत्र में सम्पन्न होने वाला यज्ञ) हैं। अब यहाँ गृह्यसूत्रों के सम्बन्ध में संक्षेप में पृथक्-पृथक् विचार किया जायेगा।

आश्वलायन गृह्यसूत्र

आश्वलायन गृह्यसूत्र ऋग्वेदीय गृह्यसूत्र है—यह गृह्यसूत्र चार अध्यायों में सम्पन्न हुआ है। प्रथम अध्याय में उपनयन तथा विवाह आदि का वर्णन है। इस अध्याय में पशुयज्ञ तथा चैत्य यज्ञ का भी वर्णन है। द्वितीय अध्याय में श्रावणी, आग्रहायणी तथा गृह प्रवेश आदि का उल्लेख है। तृतीय अध्याय में वेदानुशीलन से सम्बन्धित नियमों का निर्देश किया गया है। तृतीय अध्याय में ही युद्धकालीन एवं विपत्ति कालीन कर्मों का भी वर्णन है। चतुर्थ अध्याय में श्राद्ध आदि कर्मों का उल्लेख है।

शाङ्खायन गृह्य सूत्र

शाङ्खायन गृह्य सूत्र भी ऋग्वेद से सम्बन्धित है। इसमें छः अध्याय हैं। शाङ्खायन गृह्यसूत्र के प्रथम अध्याय में अनेक संस्कारों तथा गृह्य कर्मों क वर्णन है। द्वितीय अध्याय में उपनयन के साथ ब्रह्मचर्य आश्रम का वर्णन है। तृतीय अध्याय के अन्तर्गत स्नान, गृह निर्माण, गृह प्रवेश, वृषोत्सर्ग, आग्रहायणी और अष्टक आदि का वर्णन है। चतुर्थ अध्याय में श्राद्धकर्म एवं चैत्री प्रभृति यज्ञों का उल्लेख किया गया है। इस सूत्र के पञ्चम तथा षष्ठ अध्याय के अन्तर्गत अनेक प्रायश्चितों का निरुपण किया गया है।

कोषीतकि गृह्य सूत्र

यह भी ऋग्वेदीय गृह्य सूत्र है। इस गृह्य सूत्र की रचना शाम्भव्य ने की। कोषीतकि गृह्यसूत्र में पाँच अध्याय हैं। ग्रन्थ के आरम्भ में विवाह सम्बन्धी वर्णन किया गया है। इसमें शैशव काल में सम्पन्न होने वाले संस्कारों का वर्णन है। उपनयन संस्कार का भी वर्णन किया गया है। इस ग्रन्थ के अन्त

में श्राद्ध संस्कार का निर्देश किया गया है।

ऋग्वेद के उपर्युक्त गृह्य सूत्रों के अतिरिक्त शौनक गृह्य सूत्र, भारवीय गृह्य सूत्र, शाकल्य गृह्य सूत्र, पैङ्गी गृह्य सूत्र और पारस्कर गृह्य सूत्र का भी उल्लेख मिलता है।

पारस्कर गृह्यसूत्र

पारस्कर गृह्यसूत्र—शुक्ल यजुर्वेद से सम्बन्धित है। इस गृह्य सूत्र के प्रथम काण्ड के अन्तर्गत गर्भाधान से लेकर अन्न प्राशन तक का तथा विवाह संस्कार का वर्णन है। द्वितीय काण्ड में चूडाकरण, उपनयन, एवं पञ्च महायज्ञ आदि का वर्णन मिलता है। तृनीय काण्ड में गृह निर्माण एवं श्राद्ध आदि का वर्णन है। कर्क, जयराम, गदाधर, हरिहर, तथा विश्वनाथ, पारस्कर गृह्य सूत्र के पाँच प्रसिद्ध भाष्यकार हैं।

पारस्कर गृह्य सूत्र के अतिरिक्त शुक्ल यजुर्वेद के बैजवाप गृह्य सूत्र का उल्लेख भी अनेक स्थलों पर किया गया है[1]।

सामवेद की राणायनीय शाखा का खादिर गृह्य सूत्र भी उपलब्ध है।

बोधायन गृह्य सूत्र

इस गृहशास्त्र का सम्बन्ध कृष्णयजुर्वेद की तैत्तिरीय शाखा से है। बौधायन गृह्य सूत्र के लेखक बोधायन ही हैं, जैसा कि सूत्र के नाम से भी स्पष्ट है। इस गृह्यसूत्र का प्रकाशन Mysore Government Oriental Library Series के अन्तर्गत १६२० में हुआ था। इस गृह्यसूत्र में चार प्रश्न हैं। कुछ हस्तलिखित प्रतियों में प्रश्नों की संख्या दश भी है।

भारद्वाजगृह्य सूत्र

यह गृह्यसूत्र भी कृष्णयजुर्वेदीय ही है। तीन प्रश्नों से समन्वित इस गृह्य सूत्र का सम्पादन विदुषी डा० सलोमोन्स (Solomons) द्वारा किया गया है। डा० सलोमोन्स ने भारद्वाज गृह्यसूत्र के वर्ण्य विषय को अव्यवस्थित बतलाया है[2]।

---

१. देखिए—मानव गृह्य सूत्र, बड़ोदा संस्करण पृष्ठ–१०६, १०६

२. Solomons, Introduction to Bhardwaj Garihya Sutra P. X.

आपस्तम्बीय गृह्यसूत्र

कृष्णयजुर्वेदीय आपस्तम्बीय गृह्यसूत्र के अन्तर्गत तीस प्रश्न हैं। इस गद्य सूत्र की शैली सूक्ष्म है।

हिरण्यकेशी गृह्यसूत्र

यह गृह्यसूत्र भी कृष्णयजुर्वेदीय ही है। हिरण्यकेशी गृह्यसूत्र ही सत्याषाढ गृह्यसूत्र के नाम से भी प्रख्यात है। इस गृह्यसूत्र के लेखक सत्याषाढ हिरण्यकेशी हैं। इस गृह्यसूत्र में कहीं-कहीं पाणिनि व्याकरण के नियमों का पालन नहीं किया गया है। प्रथम प्रश्न का २६ वां खण्ड उत्तरकाल में जोड़ा गया प्रतीत होता है। डा० किर्स्टे ने तो द्वितीय प्रश्न के अन्तिम तीन खण्डों की मौलिकता को भी सन्दिग्ध माना है[1]।

वैखानस गृह्यसूत्र

कृष्णयजुर्वेदीय वैखानस गृह्यसूत्र का सम्बन्ध तैत्तिरीय शाखा से है। डा० कैलेण्ड का विचार है कि यह गृह्यसूत्र तैत्तिरीय शाखा के समस्त सूत्रों में सर्वाधिक अर्वाचीन है।

आग्निवेश्य गृह्यसूत्र

कृष्ण यजुर्वेदीय आग्निवेश्य गृह्यसूत्र के लेखक वैदिक विद्वान् अग्निवेश हैं। वर्ण्य विषय, भाषा एवं शैली की दृष्टि से यह गृह्यसूत्र अन्य गृह्यसूत्रों से भिन्न है। इस गृह्यसूत्र के अन्तर्गत यति संस्कार, संन्यास विधि, वानप्रस्थ विधि तथा व्यासबलि आदि का निरूपण किया गया है।

मानव गृह्यसूत्र

कृष्ण यजुर्वेदीय मानव गृह्यसूत्र ही मैत्रायणीय मानव गृह्यसूत्र के नाम से भी प्रख्यात है। अष्टावक्र ने तो इसे पुराण का रूप दिया है। इस गृह्य सूत्र का प्रमुख आधार मैत्रायणी संहिता है। टीकाकार अष्टावक्र ने मानवाचार्य को

---

१. देखिए हिरण्यकेशी गृह्यसूत्र, Preface by Dr. Kirste. P. VIII.

मानव गृह्यसूत्र का लेखक बतलाया है, परन्तु यह संदिग्ध है।

काठक गृह्यसूत्र

काठक गृह्यसूत्र का सम्बन्ध, जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है कृष्ण यजुर्वेद की काठक शाखा से है। इस गृह्यसूत्र का ही दूसरा नाम लौगाक्षि गृह्यसूत्र भी है। यह गृह्यसूत्र पाँच अध्यायों में विभक्त है। इसीलिये इसे गृह्यपञ्चिका भी कहते हैं। काठक गृह्यसूत्र के अन्तर्गत गृह्य कर्मों से सम्बन्धित मन्त्रों का संग्रह वर्तमान है।

वाराहगृह्यसूत्र

इस गृह्यसूत्र का सम्बन्ध कृष्णयजुर्वेद की चरक शाखा से है। वाराहगृह्य सूत्र के अन्तर्गत लगभग आधे गृह्य कर्मों का वर्णन किया गया है।

शाण्डिल्य गृह्यसूत्र

आपस्तम्ब कल्प के टीकाकार रुद्रदत्त ने शाण्डिल्य गृह्यसूत्र का उल्लेख किया है। इस गृह्यसूत्र के लेखक शाण्डिल्य प्रतीत होते हैं। इसका सम्बन्ध भी कृष्णयजुर्वेद से ही है।

माविल गृह्यसूत्र

संस्कार रत्नमाला के अन्तर्गत माविल गृह्यसूत्र का संकेत मिलता है।[1] माविल गृह्यसूत्र भी कृष्णयजुर्वेदीय ही है।

अथर्ववेद का कौशिक सूत्र

कौशिक सूत्र का सम्बन्ध अथर्ववेद की शौनक शाखा से है। यह केवल गृह्यसूत्र ही नहीं है, अपितु इसमें आथर्वणिक मन्त्रों से सम्बन्धित ऐन्द्राजालिक विषय का भी निरुपण किया गया है। प्रो० ब्लूमफील्ड ने कौशिक सूत्र को गृह्यसूत्रों एवं अथर्वसूत्रों का सम्मिलित संग्रह कहा है।[2]

---

१. देखिए, संस्कार रत्नमाला पृ० ६०७

2. Bloom Field-Kaushik Sutra, Introduction P. XXI.

धर्मसूत्र

विन्टर निट्ज महोदय ने धर्म सूत्र के अन्तर्गत धर्म शब्द का अर्थ कर्त्तव्य और रीतिरिवाज किया है। मेरे विचार से धर्मसूत्र के सन्दर्भ में धर्म शब्द का अर्थ साम्प्रदायिक धर्म ही ग्रहण करना चाहिए, यद्यपि उसमें मानव की कर्त्तव्य भावना भी सम्मिलित है। धर्मसूत्रों के अन्तर्गत भारतीय वर्णाश्रम व्यवस्था से सम्बन्धित धर्म का पूर्ण समन्वय करने का प्रयत्न किया गया है। अतएव इस साहित्य के अन्तर्गत तत्कालीन आचार सिद्धान्तों, विविध प्रथाओं तथा विधि नियमों उल्लेख किया गया है। वैसे तो, धर्मसूत्रों का मूल सम्बन्ध विविध श्रौत तथा गृह्य कल्प सूत्रों से था।

वेदों की समस्त शाखाओं के धर्म सूत्र उपलब्ध नहीं हैं। जैसे, आश्वलायन, शाङ्खायन तथा मानव शाखा के धर्मसूत्र अभी अप्राप्य ही हैं।

चौदह श्रौत यज्ञों, जिनमें सात हविर्यज्ञ तथा सात सोम यज्ञ आते हैं, का वर्णन भी धर्म सूत्रों के अन्तर्गत आता है। सात हविर्यज्ञों में अग्न्याधान, अग्नि होत्र, दर्शपूर्णमास, आग्रहायण, चातुर्मास्य निरुढपशुबन्ध तथा सौत्रामणि हैं। ये हविर्यज्ञ चरु पुरोडाश द्वारा हविसे सम्पादित होते हैं, इसीलिये इन्हें हवि-र्यज्ञ कहते हैं। सात सोम यज्ञों में अग्निष्टोम, अन्त्यग्निष्टोम, उक्थ्य, षोडशी, अतिरात्र, वाजपेय तथा आप्तोर्याय आते हैं।

धर्मसूत्रों में देवयज्ञ, भूतयज्ञ, पितृयज्ञ, ब्रह्म यज्ञ और मनुष्य यज्ञ, इन पांच यज्ञों का वर्णन किया गया है। देवयज्ञों में हवनादि कर्म, भूत यज्ञों में बलिरूप में अन्नदानादि, पितृ यज्ञ में पिण्ड दान तथा तर्पणादि, ब्रह्मयज्ञ में वेदों के अध्ययन एवं अध्यापन तथा मनुष्य यज्ञ के अन्तर्गत अतिथि को अन्नदानादि की व्यवस्था है। इसके अतिरिक्त धर्म सूत्रों में गर्भाधान आदि १६ संस्कारों-का भी वर्णन मिलता है। इन संस्कारों का वर्णन गृह्यसूत्रों के अन्तर्गत भी उप लब्ध होता है, जैसाकि पीछे कहा जा चुका है। अब यहाँ प्रमुख धर्म सूत्रों और उनके वर्ण्य के सम्बन्ध में विवेचन किया जाएगा।

बौधायन धर्मसूत्र

बौधायन धर्मसूत्र के अन्तर्गत चार प्रश्न हैं। बौधायन धर्म सूत्र बौधायन कल्प का ही भाग है जिसका सम्बन्ध बौधायन से है। बौधायनधर्म सूत्र का चतुर्थ प्रश्न विषयवस्तु एवं शिल्प आदि की दृष्टि से उत्तरकाल की रचना प्रतीत होता है। इसी प्रकार इस धर्मसूत्र का तृतीय प्रश्न भी अधिक प्रामाणिक नहीं है। उदाहरण के लिये तृतीय प्रश्न का दसवां अध्याय गौतमधर्मसूत्र के उन्नीसवें अध्याय के बहुत कुछ समान ही है।

हिरण्यकेशी धर्मसूत्र

हिरण्यकेशी धर्मसूत्र आपस्तम्ब धर्मसूत्र का ही यत् किञ्चित् परिवर्तित रूप है। इस प्रकार ऐतिहासिक एवं प्रतिपाद्य विषय की दृष्टि से भी यह धर्मसूत्र अधिक महत्त्वपूर्ण नहीं है।

वैखानस धर्मसूत्र

वैखानस धर्मसूत्र डा० कैलेन्ड द्वारा सम्पादित वैखानस स्मार्तसूत्र का ही अंश है। वैखानस सूत्र के अन्तर्गत संन्यासियों के व्यवहार के सम्बन्ध में विशेषरूप से विचार किया गया है। वैसे, इसमें सभी आश्रमों एवं वर्णों से सम्बन्धित कर्त्तव्यों का वर्णन किया गया है। इसके अतिरिक्त उपजातियों का वर्णन भी इस धर्मसूत्र मे अन्य धर्मसूत्रों की अपेक्षा अधिक है। किन्तु इस धर्मसूत्र में राजा, न्याय एवं श्राद्ध आदि के सम्बन्ध में कोई विचार नहीं मिलता, जब कि ये धर्मसूत्रों के प्रमुख विषय रहे हैं।

विष्णु धर्मसूत्र

विष्णु धर्मसूत्र के अन्तर्गत सौ अध्याय हैं। डा० रामगोपाल का विचार है कि सौ अध्यायों से विष्णु धर्मसूत्र के अन्तर्गत वर्णित विष्णु के सौ नामों की ओर संकेत है।

विष्णु धर्मसूत्र के अन्तर्गत उस देश को म्लेच्छ कहा गया है, जिसमें ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र जातियां नहीं हैं। इसीलिये आर्यावर्त्त की श्रेष्ठता प्रतिपादित की गई है। इसके अतिरिक्त विष्णु धर्मसूत्र के अन्तर्गत ब्राह्मण, क्षत्रिय एवं वैश्य को शूद्र पत्नी के रखने का अधिकारी बतलाया गया है। इस प्रकार विभिन्न सामाजिक विषयों का विवेचन इस धर्मसूत्र के अन्तर्गत उपलब्ध होता है।

मानव धर्मसूत्र

डा० ब्हूलर ने मानव धर्मसूत्र नामक धर्मसूत्र की भी प्रामाणिकता सिद्ध करने का प्रयत्न किया है, परन्तु समग्र संस्कृत साहित्य में मानव धर्मसूत्र के नाम से किसी ग्रन्थ का उल्लेख नहीं मिलता। डा० ब्हूलर ने कामन्दकीय नीति सार आदि ग्रन्थों में प्रयुक्त 'मानवाः" आदि शब्द के प्रयोग के आधारों पर मानवधर्मसूत्र की प्रामाणिकता सिद्ध की है। परन्तु अभी इस धर्मसूत्र की प्रामाणिकता सन्दिग्ध ही है।

वसिष्ठ धर्म सूत्र

वसिष्ठ धर्मसूत्र का सम्बन्ध ऋग्वेद से है। इस सूत्र के अन्तर्गत ३० अध्याय है, जिनमें नारी कर्त्तव्य, सदाचरण, ब्रह्मचर्यादि आश्रमों, आतिथ्य आदि विषयों का वर्णन है। इसके अतिरिक्त राजधर्म एवं दान दक्षिणादि का वर्णन भी इस धर्म सूत्र के अन्तर्गत उपलब्ध है।

आपस्तम्ब धर्मसूत्र[1]

इसका सम्बन्ध यजुर्वेद से है। आपस्तम्ब कल्प सूत्र के ३० प्रश्नों में अट्ठाईसवें और उन्तीसवें प्रश्नों में धर्मसूत्र हैं। आरम्भ के २४ प्रश्नों में श्रौत सूत्र और तीसवें प्रश्न में शुल्व सूत्र है। आपस्तम्ब धर्म सूत्र के अन्तर्गत

१. यह धर्म सूत्र गवर्नमेण्ट ओरियन्टल हिन्दू सीरीज में प्रकाशित हुआ है।

ब्रह्मचर्य, शास्त्र विचार एवं प्रायश्चित आदि का विवेचन है। इस पर उज्ज्वला नामक टीका भी उपलब्ध है।

गौतम धर्म सूत्र[1]

इसका सम्बन्ध सामवेद से है। गौतम धर्मसूत्र में २८ अध्याय हैं। इसमें ब्रह्मचर्य, भिक्षु, गृहस्थ एवं वानप्रस्थ के धर्म वर्णित हैं।

शुल्व सूत्र

शुक्ल यजुर्वेद से सम्बन्धित एक शुल्वसूत्र भी प्रकाशित हुआ है। यह कात्यायन रचित है। इसमें सात कण्डिकाएँ है। इस शुल्व सूत्र में वेदी निर्माण, चतुस्रादि क्षेत्र वर्णित हैं। इसमें वैदिक काल की ज्यामिति का वर्णन है।

आपस्तम्ब शुल्व सूत्र

कृष्ण यजुर्वेद से सम्बन्धित आपस्तम्ब कल्पसूत्र का तीसवाँ अध्याय शुल्व-सूत्र है।

प्रायः समस्त शुल्व सूत्रों का प्रमुख वर्ण्य विषय यज्ञ की वाह्य रूप रेखा से ही है। जिसके अन्तर्गत यज्ञ वेदी का माप आदि आता है।

श्राद्धकल्प तथा पितृ कल्प सूत्र

उपर्युक्त सूत्रों के अतिरिक्त ये दो उपसूत्र भी सूत्र साहित्य के अन्तर्गत आते हैं। इनमें से कुछ का सम्बन्ध वैदिक संहिताओं से है और कुछ नितान्त अर्वाचीन हैं। इसके अतिरिक्त वैतान सूत्र का अङ्गभूत एवं दीर्घकाय प्रायश्चित्तसूत्र भी उपलब्ध है।

---

१. यह धर्मसूत्र भी गवर्नमेंट ओरियन्टल लाइब्रेरी संस्कृत सीरीज से प्रकाशित हुआ है। इस पर मस्करी भाष्य भी उपलब्ध है।

सूत्रों का रचनाकाल

सूत्रों के रचनाकाल के सम्बन्ध में अनेक कठिनाइयां हैं। यही कारण है कि संस्कृत साहित्य के इतिहास के लेखकों एवं वैदिक साहित्य के इतिहास के लेखकों ने भी सूत्रों के रचनाकाल एवं उनकी संस्कृति के सम्बन्ध में प्रायः विचार ही नहीं किया है और यदि किसी ने किया भी है तो नाममात्र को ही। सूत्रों के रचनाकाल की अनिश्चियता का प्रमुख कारण यह है कि समस्त सूत्रों का परस्पर सम्बन्ध निश्चित करना अत्यन्त कठिन है। सूत्रों के पारस्परिक सम्बन्ध के अभाव में सूत्रों का काल निर्णय असम्भव ही कहा जायेगा। अतः यहां सूत्रों का क्रमिक सम्बन्ध स्थापित करना उपयुक्त होगा। सूत्रों के इस क्रमिक सम्बन्ध के आधार पर ही सूत्रों के काल निर्णय का प्रयत्न किया जाएगा।

आश्वलायन के सूत्र

आश्वलायन गृह्यसूत्र और आश्वलायन श्रौतसूत्र आश्वलायन रचित हैं। वृहद्देवता के अन्तर्गत आश्वलायन का उल्लेख मिलता है। वृहद्देवता का काल कात्यायन का पूर्ववर्तीकाल है और कात्यायन की सर्वाङ्क्रमणी में अनेक पाणिनि व्याकरण के विरोधी प्रयोग मिलते हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि पाणिनि का काल कात्याथन का पश्चात्वर्ती काल है। इस प्रकार वृहद्देवता में उपलब्ध आश्वलायन के उल्लेख से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि आश्वलायन का काल पाणिनि से बहुत प्राचीन है। इस सम्बन्ध में कीथ महोदय का विचार भी द्रष्टव्य है। प्रो० कीथ का कथन है कि ऐतरेयारण्यक (५।३।२) के अन्तर्गत आश्वलायन श्रौतसूत्र (१५,१७) का संकेत मिलता है। इससे भी यहां यही सिद्ध होता है कि आश्वलायन पाणिनि के पूर्ववर्ती हैं, क्योंकि ऐतरेयारण्यक का काल पाणिनि का पूर्ववर्ती काल है।

इसके अतिरिक्त, शैली के आधार पर भी आश्वलायन गृह्यसूत्र, सूत्रकाल की प्राचीनतम कृति प्रतीत होती है। कहीं-कहीं तो आश्वलायन गृह्यसूत्र

की शैली ब्राह्मणों जैसी है। इससे भी आश्वलायन गृह्य सूत्र का काल पूर्व-पाणिनि काल ही प्रतीत होता है।

कौशीतकि गृह्य सूत्र

के सम्बन्ध में डा० चिन्तामणि का विचार है कि यह गृह्यसूत्र मनुस्मृति के उत्तरकाल का है। अपने मत के समर्थन में डा० चिन्तामणि का कथन है कि कौशीतकि गृह्यसूत्र के अन्तर्गत मनुस्मृति के कई श्लोक ज्यों के त्यों मिलते हैं।

प्रमुख रूप से विचारणीय बात तो यह है कि कौशीतकि गृह्यसूत्र के पांचवें अध्याय को छोड़कर जो सम्भवत: शाङ्खायन श्रौतसूत्र पर आधारित है, समस्त कौशीतकि गृह्यसूत्र शाङ्खायन गृह्यसूत्र का ही यत् किञ्चित् परिवर्तित रूप है। इससे कौशीतकि गृह्यसूत्र की मौलिकता असिद्ध है। इस प्रकार कौशीतकि गृह्यसूत्र का रचनाकाल प्रमुखरूप से शाङ्खायन गृह्यसूत्र के रचना काल पर आधारित है।

जहाँ तक शाङ्खायन गृह्यसूत्र के रचनाकाल का प्रश्न है, शाङ्खायन गृह्यसूत्र आश्वलायन के उत्तर काल का है। इस तथ्य के समर्थन में निम्नलिखित कारण दिये जा सकते हैं—

(१) शाङ्खायन गृह्यसूत्र के अन्तर्गत जाति भेद, चूडाकर्म संस्कार के अवसर पर बालक की आयु क्या होनी चाहिये तथा विवाह संस्कार के पूर्ण होने पर क्या क्या उपहार देने चाहिए आदि विषयों पर विचार किया गया है, जबकि आश्वलायन गृह्यसूत्र के अन्तर्गत उपर्युक्त विषय अवर्णित है। निश्चय ही जातिभेद आदि का वर्णन उत्तरकालिक ग्रन्थों का विषय है। अत: आश्वलायन का काल शाङ्खायन से पूर्व का निश्चित होता है।

(२) ऐतरेयारण्यक के अन्तर्गत आश्वलायन श्रौतसूत्र का संकेत मिलता है। ऐतरेयारण्यक निश्चय ही शाङ्खायन श्रौतसूत्र से प्राचीन है। इस प्रकार

आश्वलायन श्रौतसूत्र का शाङ्खायन श्रौतसूत्र से प्राचीन होना यह सिद्ध करता है कि आश्वलायन गृह्यसूत्र शाङ्खायन गृह्यसूत्र से प्राचीन है।

कात्यायन श्रौतसूत्र और पारस्कर गृह्यसूत्र

पारस्कर गृह्यसूत्र कात्यायन गृह्यसूत्र की अपेक्षा उत्तरकालिक प्रतीत होता है। पारस्कर गृह्यसूत्र के अन्तर्गत अनेक स्थलों पर कात्यायन श्रौतसूत्र की चर्चा की गई है।[1] कतिपय सूत्र तो पारस्कर गृह्यसूत्र और कात्यायन श्रौतसूत्र में समान ही हैं।[2]

परन्तु उपर्युक्त दोनों ही सूत्र आश्वलायन गृह्यसूत्र के तो उत्तरकाल के ही हैं। यह तथ्य दोनों सूत्रों की शैली एवं वर्ण्य के आधार पर स्पष्ट रूप से प्रतिपादित होता है। पारस्कर गृह्यसूत्र की शैली अत्यन्त संक्षिप्त है। इसके अतिरिक्त जाति प्रथा का वर्णन भी जैसा पारस्कर गृह्यसूत्र के अन्तर्गत मिलता है, वैसा आश्वलायन गृह्यसूत्र के अन्तर्गत अलभ्य है।

जहां तक वशिष्ट धर्मसूत्र और पारस्कर गृह्यसूत्र के क्रमिक सम्बन्ध की बात है, पारस्कर गृह्यसूत्र का रचनाकाल वशिष्ठ धर्मसूत्र से पूर्व का प्रतीत होता है। इसीलिये वशिष्ठ धर्मसूत्र के अन्तर्गत पारस्कर गृह्यसूत्र के सूत्रों का समर्थन किया गया है।[3] इसके अतिरिक्त वशिष्ठ धर्मसूत्र के अन्तर्गत पारस्कर गृह्यसूत्र के विचारों का निराकरण भी किया गया है।[4] इससे यह स्पष्ट

---

१. पारस्कर गृह्यसूत्र १।१८।१—कात्यायन श्रौतसूत्र ४।१२।२२, पा० गृ० सू० २।५।४१, कात्यायन श्रौतसूत्र XXV, १,१२—१३

२. मिलाइये—पारस्कर गृह्यसूत्र—२।१।१० तथा कात्यायन श्रौतसूत्र ५।२।१५, पा० गृ० सू० २।१५।५ तथा का० श्रौ० सू० १८।४।२३ आदि।

३. मिलाइए पारस्करगृहयसूत्र १, ४, ८—११ और वशिष्ठ धर्मसूत्र १,२४,२५

४. वशिष्ठ धर्मसूत्र के अन्तर्गत पारस्कर गृहयसूत्र १,८,१२ का निराकरण किया गया है।

सिद्ध होता है कि पारस्कर गृह्यसूत्र वशिष्ठ धर्म सूत्र की अपेक्षा नवीन है।

बौधायन, भारद्वाज, आपस्तम्ब और हिरण्यकेशी के कल्पसूत्र

बौधायन आदि चारों शाखाओं से सम्बद्ध सूत्र परस्पर अत्यन्त सम्बद्ध हैं। हिरण्यकेशी श्रौतसूत्र के टीकाकार महादेव ने यजुर्वेद की तैत्तिरीय शाखा से सम्बन्धित कल्पसूत्रों का जो क्रम माना है वह इस प्रकार है—बौधायन, भारद्वाज, आपस्तम्ब, हिरण्यकेशी, वाधूल और वैखानस। प्रो० गोर्क ने बौधायन, भारद्वाज, आपस्तम्ब और हिरण्यकेशी के श्रौतसूत्रों के सम्बन्ध में इसी क्रम को माना है। डा० विन्टर निट्ज ने भी उपर्युक्त चार कल्पसूत्रों के गृह्यसूत्रों का उक्त क्रम स्वीकार किया है। प्रो० ब्यूलर का विचार है कि बौधायन, आपस्तम्ब और हिरण्यकेशी के धर्मसूत्रों के सम्बन्ध में उपर्युक्त क्रम स्वीकार किया जा सकता है। डा० कैलैण्ड का विचार है कि बौधायन का कल्पसूत्र तैत्तिरीय शाखा के समस्त कल्पसूत्रों में प्राचीन है। इन सब मतों में आपस्तम्ब का मत अन्तः साक्ष्य पर आधारित होने के कारण प्रामाणिक प्रतीत होता है।

आपस्तम्ब का काल

आपस्तम्ब के निश्चित स्थितिकाल के सम्बन्ध में भी विद्वानों में ऐकमत्य नहीं है। ब्यूलर महोदय के मतानुसार आपस्तम्ब को ई० पू० तृतीय शती के पश्चात् नहीं माना जा सकता। डा० काणे आपस्तम्ब को ई० पू० ६०० — ३०० के मध्यकाल में स्वीकार करते हैं। हमारे विचार से आपस्तम्ब का स्थितिकाल पाणिनि से पूर्व का काल प्रतीत होता है। इस तथ्य के समर्थन में यह तर्क प्रस्तुत किया जा सकता है कि पाणिनि ने विदादि गण पाठ (४।१।१०४) के अन्तर्गत आपस्तम्ब का स्पष्ट उल्लेख किया है। इससे आप-

स्तम्ब का पाणिनि से पूर्ववर्त्ती होना स्पष्ट सिद्ध है। हमारे इस मत का समर्थन कीथ महोदय के इस मत से भी हो जाता है कि आपस्तम्ब की भाषा शैली भी कात्यायन श्रौतसूत्र के रचयिता कात्यायन से आपस्तम्ब का प्राचीन होना सिद्ध करती है। कात्यायन का पाणिनि से पूर्ववर्त्ती होना तो सिद्ध ही है। इस प्रकार आपस्तम्ब का पाणिनि से पूर्वकाल का होना भी सिद्ध हो है।

बौधायन का स्थितिकाल

जैसा कि ऊपर संकेत किया जा चुका है, तैत्तिरीय शाखा के कल्पसूत्रों में बौधायन सबसे प्राचीन हैं। जहाँ तक बौधायन और आपस्तम्ब के मध्य के काल का प्रश्न है डा० ब्हूलर ने बौधायन, भारद्वाज एवं आपस्तम्ब के मध्य में सैकड़ों वर्षों का अन्तर माना है। डा० ब्हूलर का मत समीचीन प्रतीत होता है, क्योंकि उपर्युक्त तीनों सूत्र कारों के धार्मिक एवं सामाजिक विचारों मे पर्याप्त अन्तर है।

भारद्वाज गृह्यसूत्र का काल निर्णय

भारद्वाज गृह्यसूत्र आपस्तम्बगृह्यसूत्र से प्राचीन प्रतीत होता है। महादेव के उपर्युक्त मत के साथ-साथ यह तर्क भी हमारी मान्यता को प्रमाणित करता है कि भारद्वाज गृह्यसूत्र की शैली जैसो सरल एवं विस्तारात्मक है वैसी आपस्तम्ब गृह्यसूत्र की नहीं है। आपस्तम्ब गृह्यसूत्र की अपेक्षा भारद्वाज गृह्यसत्र शैली की दृष्टि से बौधायन गृह्यसूत्र के निकट प्रतीत होता है।

हिरण्यकेशी के सूत्र

महादेव के कथनानुसार हिरण्यकेशी की स्थिति आपस्तम्ब के उत्तरकाल की है।

आपस्तम्बधर्म सूत्र और हिरण्यकेशी धर्मसूत्र के पारस्परिक सम्बन्ध के

विषय में ब्हूलर[1] महोदय का विचार है कि या तो हिरण्यकेशी और या उनके किसी निकट परवर्ती विद्वान ने आपस्तम्ब धर्मसूत्र को ही यत् किञ्चित् रूप में परिवर्तित करके हिरण्यकेशी धर्मसूत्र के रूप में प्रस्तुत कर दिया है। जहां तक हिरण्यकेशी गृह्यसूत्र का प्रश्न है हमारे विचार से वह आपस्तम्ब गृह्यसूत्र का ही परिवर्तित रूप नहीं है, अपितु उसकी स्वतन्त्र मौलिक स्थिति भी है। इन दोनों सूत्रों के वर्ण्य विषय में समताओं के साथ-साथ विषमतायें भी हैं। हिरण्यकेशी गृह्यसूत्र की शैली गत विषमता विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इस सूत्र की शैली वैसी सूक्ष्म नहीं है जैसी की आपस्तम्ब गृह्यसूत्र की। इसके अतिरिक्त समावर्त्तन, चतुर्थीकर्म पुंसवन आदि के सम्बन्ध में भी दोनों गृह्यसूत्रों में पूर्णतया साम्य नहीं है। साथ ही, आपस्तम्ब गृह्यसूत्र के अन्तर्गत दम्पत्ति प्रीतिकर्म, पतिवश्यकर कर्म, सपत्नी बाध कर्म, भार्याक्षयनिवृत्ति कर्म और जरायुपतन के रूप में जिन गृह्य कर्मों का उल्लेख मिलता है वह हिरण्यकेशी गृह्यसूत्र में अनुपलब्ध है। साम्य के साथ इस प्रकार दोनों गृह्यसूत्रों के वर्ण्य विषय में भेद होने के कारण दोनों की स्वतन्त्र स्थिति स्वीकार करनी चाहिये। (इस प्रकार इस विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि) हिरण्यकेशी गृह्यसूत्र आपस्तम्ब गृह्यसूत्र से उत्तरकाल की रचना तो है परन्तु हिण्यकेशी गृह्यसूत्र और आपस्तम्ब गृह्यसूत्र के मध्य में अधिक काल का अन्तर नहीं कहा जा सकता।

मानव श्रौतसूत्र और मानव गृह्यसूत्र

मानव श्रौतसूत्र एव मानव गृह्यसूत्र में परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध है। मानव श्रौसूत्र की स्थिति आपस्तम्ब श्रौतसूत्र से प्राचीन प्रतीत होती है, क्योंकि आपस्तम्ब श्रौतसूत्र में मानव श्रौतसूत्र के अनेक कर्मों का समर्थन किया गया

1. S. B. E. Vol. II, P. XXIV

है। इससे यह तथ्य भी प्रमाणित होता है कि मानव गृह्यसूत्र भी आपस्तम्ब गृह्यसूत्र से प्राचीन है।

काठक गृह्यसूत्र का स्थितिकाल

काठक गृह्यसूत्र एवं मानव गृह्यसूत्र के स्थिति काल में परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध है। यदि इन दोनों सूत्रों की शैलीगत एव वर्ण्य विषय सम्बन्धी तुलना की जाय तो मानव गृह्यसूत्र निश्चित रूप से प्राचीनतर सिद्ध होता है।

वाराह गृह्य सूत्रों का स्थितिकाल

वाराह श्रौतसूत्र एव वाराहगृह्यसूत्र के लेखक का स्थितिकाल पतञ्जलि, वादरायण और जैमिनि से उत्तरकाल का प्रतीत होता है, क्योंकि वाराह श्रौतसूत्र के अन्तर्गत पत्तञ्जलि जैमिनि एवं वादरायण को उद्धृत किया गया है। इसके अतिरिक्त वाराहगृह्यसूत्र मानव गृह्यसूत्र एवं काठक गृह्यसूत्र से भी अर्वाचीन है। वाराहगृह्यसूत्र की अर्वाचीनता इससे प्रमाणित होती है कि इस गृह्यसूत्र के अन्तर्गत कतिपय ऐसे विषयों का उल्लेख किया गया है जिनका संकेत भी मानव गृह्यसूत्र एवं काठक गृह्यसूत्र के अन्तर्गत उपलब्ध नहीं है। उदाहरण के लिये' मानव गृह्यसूत्र एवं वाराह गृह्यसूत्र में स्मृति को ब्रह्मचारी का अध्येय विषय बतलाया है तथा जातिभेद के आधार पर विद्यार्थियों के लिए भिन्न-भिन्न प्रकार के कमण्डलुओं का प्रयोग बतलाया है। उपर्युक्त दोनों सूत्रों में यह वर्णन नहीं मिलते। अतः वाराहगृह्यसूत्र निश्चय ही अर्वाचीन गृह्यसूत्र है।

वैखानस गृह्य सूत्र

हिरण्यकेशी श्रौतसूत्र के टीकाकार महादेव के अनुसार तैत्तिरीय शाखा के सूत्रों में वैखानससूत्र सबसे अर्वाचीन हैं। प्रो० कैलेण्ड ने भी वैखानस गृह्य-

१. देखिये Dr. Sham Shastry's Introduction to Varaha-grihya Sutras.

सूत्र के भाषा एवं शैली सम्बन्धी अध्ययन के आधार पर महादेव के ही उपर्युक्त मत को माना है।

वैखानस धर्मसूत्र के अन्तर्गत ताम्बूल शब्द का प्रयोग मिलता है। प्रो० कैर्न (Kern) का विचार है कि भारतवर्ष मे ताम्बूल खाने की प्रवृत्ति चरक एवं सुश्रुत के मध्यकाल में उत्पन्न हुई होगी। प्रो० स्पेयर का विचार है कि ताम्बूलखाने के उदाहरण कथासरित्सागर में भी मिलते हैं और कथा सरित् सागर का रचना काल चतुर्थ शताब्दी से पहिले नहीं रखा जा सकता। अतः वैखानस सूत्रों का रचनाकाल भी ई० पू० चतुर्थ शताब्दी के ही आस-पास होना चाहिये, क्योंकि, जैसा कि अभी कहा जा चुका है, वैखानस धर्मसूत्र में भी ताम्बूल शब्द का प्रयोग मिलता है।

अग्निवेश्य गृह्यसूत्र का स्थितिकाल

अग्निवेश्य गृह्यसूत्र सभी गृह्यसूत्रों में अर्वाचीन प्रतीत होता है। अग्निवेश्य गृह्यसूत्र में जिन आस्थाओं एवं अन्धविश्वासों का वर्णन है, वह पौराणिक पद्धति के ही अनुरूप है। अतः डा० रामगोपाल तो इस गृह्यसूत्र को सूत्र मानने को भी तैयार नहीं हैं।[1] इस गृह्यसूत्र में ताम्बूल चबाने का वर्णन भी मिलता है। इस प्रकार यह गृह्यसूत्र निश्चय ही अत्यन्त अर्वाचीन है। इस सूत्र की अप्रामाणिकता इसी से सिद्ध है कि इसका बहुत सा विषय हिरण्यकेशी गृह्यसूत्र एवं बोधायन गृह्यसूत्र आदि सूत्रों से गृहीत है।

लाट्यायन श्रौतसूत्र का स्थितिकाल

सामवेद से सम्बधित श्रौतसूत्रों में लाट्यायन श्रौतसूत्र सर्वाधिक प्राचीन प्रतीत होता है। इस श्रौतसूत्र के अन्तर्गत पञ्चविंश ब्राह्मण के भी उद्धरण दिये गये हैं। लाट्यायन श्रौतसूत्र एवं कात्यायन श्रौतसूत्र के यज्ञ सम्बन्धी

1. Dr. Ram Gopal, India of Vedic Kalp Sutras. Page 80.

वर्णनों में भी पर्याप्त साम्य है। इस सम्बन्ध में सोम यज्ञ सम्बन्धी वर्णन को उद्धृत किया जा सकता है। कात्यायन श्रौतसूत्र एवं लाट्यायन श्रौतसूत्र के भाषा एवं शैली सम्बन्धी तुलनात्मक अध्ययन के आधार पर लाट्यायन श्रौतसूत्र ही प्राचीन प्रतीत होता है।

द्राह्मायण श्रौतसूत्र का स्थितिकाल

यह श्रौतसूत्र लाटयायन श्रौतसूत्र का उत्तरवर्ती है। द्राहृयायण श्रौतसूत्र में लाट्यायन श्रौतसूत्र का प्रायः अनुगम किया गया है। यदि विचारकर देखा जाये तो इन दोनों सूत्रों में अत्यल्प भेद देखने को मिलता है।

गोभिल गृहयसूत्र का स्थितिकाल

गोभिल गृहयसूत्र सामवेद से सम्बन्धित सभी गृहय सूत्रों में प्राचीन है। किन्तु विवेचनात्मक शैली एवं विस्तृत वर्णन प्रक्रिया के आधार पर गोभिल गृहयसूत्र उत्तरकालकी ही रचना प्रतीत होती है।

खादिर गृह्य सूत्र का स्थितिकाल

यह गृहयसूत्र तो गोभिल गृहयसूत्र का ही संक्षिप्त रूपान्तर प्रतीत होता है। इसकी शैली से यह भी उत्तरकालीन रचना ही प्रतीत होता है।

जैमिनीयशाखा के सूत्रों का स्थितिकाल

समस्त जैमिनीय गृहयसूत्र एक काल का प्रणीत नही प्रतीत होता है। ऐसा प्रतीत होता है कि इस गृहयसूत्र के द्वितीय भाग के चतुर्थ से नवम् तक के खण्ड उत्तरकाल में आकर जोड़े गये हैं। इसका कारण यह प्रतीत होता है कि द्वितीय भाग के तृतीय खण्ड के अन्त में ग्रन्थ की समाप्ति ही कर दी गई है।

यह गृहय सूत्र गोभिल गृहयसूत्र की अपेक्षा उत्तरकालिक प्रतीत होता है। जमिनीय श्रौतसूत्र तो अत्यन्त लघुकाय है, क्योंकि इसमें केवल २६

खण्डिकार्यें है। यह श्रौतसूत्र भी प्राचीन न होकर जैमिनीय गृह्यसूत्र का ही सामकालिक प्रतीत होता है।

कौशिक गृह्यसूत्र का स्थितिकाल

कौशिक गृह्यसूत्र पूर्व-पाणिनि काल का प्रतीत होता है। डा० ब्लूमफील्ड ने कौशिक गृह्यसूत्र को गोपथ ब्राह्मण की अपेक्षा प्राचीन माना है।[1] यदि कौशिक को गोपथ ब्राह्मण से पूर्व का मानलिया जाय तो कौशिक गृह्यसूत्र यास्क से भी पूर्ववर्ती सिद्ध होगा, जिन यास्क का काल पाणिनि का पूर्ववर्ती काल है इसका कारण यह है कि डा० आफरेक्ट ने गोपथ ब्राह्मण को यास्क से प्राचीन माना है।[2] इसके अतिरिक्त पाणिनि ने कौशिक सूत्र का उल्लेख भी किया है। इस प्रकार कौशिक गृह्यसूत्र का स्थितिकाल पाणिनि का पूर्ववर्ती काल प्रतीत होता है।

वैतानसूत्र का स्थितिकाल

वैतान सूत्र की मौलिकता अत्यन्त सन्दिग्ध है। अथर्ववेद का श्रौतसूत्र ही वैतानसूत्र के नाम से प्रख्यात है। यद्यपि ब्लूमफील्ड प्रभृति विद्वान् वैतान सूत्र को गोपथ ब्राह्मण से प्राचीन स्वीकार करते हैं, परन्तु प्रो० कीथ एवं केलेण्ड प्रभृति विद्वानों का विचार है कि यह गोपथ ब्राह्मण की अपेक्षा उत्तर-कालिक ही है। निश्चय ही वैतानसूत्र उत्तर सूत्रकाल की रचना है।

गौतम धर्मसूत्र का स्थितिकाल

बोधायन ने अपने धर्मसूत्र (१,१,२,७) में गौतम के विचारों का उल्लेख किया है। इसके अतिरिक्त बोधायन धर्मसूत्र के तृतीय प्रश्न का दशम अध्याय

1, Bloom Field—Atharva Veda, Pages 102,119

2. Afrecht—Das Aitareya Brahman, Pages 432—33

गौतमधर्म सूत्र के १६ वें अध्याय से ही ग्रहीत प्रतीत होता है। ये तथ्य गौतमधर्म सूत्र को बोधायन धर्मसूत्र से पूर्व का प्रमाणित करते हैं।

वशिष्ट धर्मसूत्र

वशिष्ठ का काल गौतम का पश्चाद्वर्ती काल प्रतीत होता है, क्योंकि वशिष्ठ ने अपने धर्मसूत्र का २२ वां अध्याय गौतम धर्मसूत्र के १६ वें अध्याय से ही लिया है। वशिष्ठ का काल आश्वलायन, शाङ्खायन और पारस्कर का पश्चाद्वर्ती काल ही प्रतीत होता है। इस तथ्य का प्रतिपादन इस तर्क से होता है कि वशिष्ठ धर्मसूत्र में आश्वलायन आदि उपर्युक्त आचार्यों के विचारों का उल्लेख किया गया है।

वशिष्ठ धर्मसूत्र का सूत्र भाग तो मनुस्मृति से भी पूर्वकाल का प्रतीत होता है। जहाँ तक विष्णु धर्मसूत्र और वशिष्ठ धर्मसूत्र का प्रश्न है, विष्णु धर्मसूत्र की अपेक्षा वशिष्ठ धर्मसूत्र ही प्राचीन है। इसका कारण यह है कि विष्णु धर्मसूत्र में वशिष्ठ धर्मसूत्रों के अनेक नियमों एवं विधियों का अनुगमन किया गया है। डा० जोली[1] उपर्युक्त मत के विपरीत विष्णु धर्मसूत्र को वशिष्ठ धर्मसूत्र की अपेक्षा प्राचीन मानते हैं, परन्तु उनका मत प्रामाणिक नहीं है।

विष्णु धर्मसूत्र का स्थितिकाल

डा० जोली का विचार है कि विष्णुधर्म सूत्र मूलतया काठक धर्मसूत्र था। इस प्रकार डा० जोली विष्णुधर्म सूत्र के मूलरूप को सभी धर्मसूत्रों में प्राचीनतम मानते हैं और इसका काल तृतीय चतुर्थ शताब्दी का परवर्ती काल स्वीकार करते हैं। किन्तु जैसा कि कहा जा चुका है, डा० जोली का मत प्रामाणिक नहीं है।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट रूप से सिद्ध हो जाता है कि समस्त सूत्रों

---

1. Jolly, S. B. E. Vol. VII P. P. XIX

की रचना एक काल में ही सम्पन्न नहीं हुई है, अपितु कतिपय सूत्रों के रचना काल में तो दीर्घकाल का अन्तर है। सूत्र साहित्य का वैदिकसहिताओं एवं ब्राह्मणों से उत्तरवर्ती होना पूर्णतया सिद्ध है। सूत्रों का यह रचनाकाल वैदिक साहित्य के सूत्रकाल के नाम से प्रसिद्ध है। ऊपर किये गये विवेचन के आधार पर समस्त सूत्रों के रचनाकाल के चार निम्नलिखित भाग किये जा सकते हैं—

प्रथम भाग के अन्तर्गत आश्वलायन श्रौतसूत्र, आश्वलायन गृह्यसूत्र, लाट्यायन श्रौतसूत्र, बोधायन श्रौतसूत्र, बोधायन गृह्यसूत्र, बोधायन धर्मसूत्र, मानव श्रौतसूत्र, मानव गृह्यसूत्र, कौशीतकि सूत्र, गौतम धर्मसूत्र और गोभिल गृह्यसूत्र आते हैं। इन सूत्रों का रचना काल अन्य सभी सूत्रों की अपेक्षा प्राचीन है।

द्वितीय भाग के अन्तर्गत शाङ्खायन श्रौतसूत्र, शाङ्खायन गृह्यसूत्र, भारद्वाज श्रौतसूत्र, भारद्वाज गृह्यसूत्र, आपस्तम्ब श्रौतसूत्र, आपस्तम्ब गृह्य सूत्र, आपस्तम्ब धर्मसूत्र, कात्यायन श्रौतसूत्र, पारस्कर गृह्यसूत्र और काठक गृह्यसूत्र आते हैं, जो प्रथम भाग की अपेक्षा अर्वाचीन है।

तृतीय भाग के अन्तर्गत द्राह्यायण श्रौतसूत्र, काठक गृह्यसूत्र, जैमिनीय श्रौत सूत्र, जैमिनीय गृह्यसूत्र, हिरण्यकेशी श्रौतसूत्र, हिरण्यकेशी गृह्यसूत्र, वैतान सूत्र, और वशिष्ठधर्म का सूत्र भाग आता है। यह भाग पूर्वोक्त दोनों भागों की अपेक्षा अर्वाचीन है।

चतुर्थ भाग के अन्तर्गत आने वाले सूत्र अत्यन्त उत्तरकाल के सूत्र प्रतीत होते हैं। इन सूत्रों में वाराह श्रौतसूत्र, वाराह गृह्यसूत्र, वैखानस श्रौतसूत्र, वैखानस गृह्यसूत्र, वैखानस धर्मसूत्र, अग्निवेश्य गृह्यसूत्र और विष्णु धर्मसूत्र आते हैं। इन सूत्रों का रचनाकाल वैदिक साहित्य के अन्तर्गत आने वाले उपर्युक्त तीन भागों के सूत्रकाल से किञ्चित् मात्र भी सम्बद्ध नहीं कहा जा सकता। ये सूत्र तो ईसवी सन् के पश्चात् की रचनाएँ ही हैं।

जहां तक उपर्युक्त तीन भागों के रचनाकाल का प्रश्न है, प्रथम भाग के सूत्र ई० पू० ८०० के पूर्व पाणिनि काल के प्रतीत होते हैं और पाणिनिकाल हम लगभग ६०० —५५० ई० पू० मानते हैं। प्रथम भाग के कुछ सूत्र तो ई० पू० ८वीं शताब्दी रचित प्रतीत होते हैं। द्वितीय भाग के भी कुछ सूत्र तो पाणिनिकाल से पूर्व के ही रचित हैं। जहाँ तक तृतीय भाग के सूत्रों का प्रश्न है। इन सूत्रों और प्रथम भाग के सूत्रों के अन्तर्गत वर्णित धार्मिक आख्याओं के आधार पर इनका अन्तर लगभग तीन सौ वर्ष का होना चाहिये। इस प्रकार अधिकतर सूत्रों का रचना काल ई० पू० ८००-५०० का काल निश्चित किया जा सकता है। चतुर्थभाग के सूत्रों के सम्बन्ध में पहिले ही कहा जा चुका है कि ये नितान्त अर्वाचीन सूत्र हैं और इनका प्रथम, द्वितीय और तृतीय भाग के सूत्रों से कोई सम्बन्ध नहीं है।

सूत्र कालीन संस्कृति

सूत्रकाल में समाज ब्राह्मण-क्षत्रिय, वैश्य एवं शुद्र, इन चार वर्णों में विभक्त था। सूत्र कालीन संस्कृति के अनुसार शुद्रों का वर्ण (रंग) द्विजों से भिन्न समझा जाता था। वशिष्ट धर्मसूत्र में शूद्र स्त्री का काला रंग बतलाया गया है। सूत्र कालीन परम्परा के अनुसार शूद्रों को उपनयन संस्कार एव वेदाध्ययन का अधिकार प्राप्त नहीं था। अयोगव, उग्र, करण, कुक्कुर, चाण्डाल, दोष्पन्त, धीवर, निषाद, माहिष्य मागध, यावन, वृषल और श्वपाक आदि उपजातियाँ भी शूद्र जाति के अन्तर्गत मानी जाती थीं। शूद्रों में अन्त र्जातीय विवाह प्रथा प्रचलित थी। सूत्रकाल की जातिप्रथा धीरे-धीरे कट्टर बनती जा रही थी। उदाहरण के लिये आरम्भ में रथकार को उपनयन का अधिकार प्राप्त था, परन्तु उत्तरकालीन सूत्रों के अनुसार आगे चलकर यह अधिकार रथकार से छीन लिया गया था।

प्रत्येक वर्ण का कार्य प्राय: निश्चित सा था। उदाहरण के लिये अध्ययन एवं पुजारी का कार्य ब्राह्मणों का प्रधान कार्य था। क्षत्रियों का कार्य सेना सम्बन्धी कार्य था, जिसके अन्तर्गत वे देश की सीमाओं की रक्षा करना अपना

परम कर्तव्य समझते थे। व्यापार, कृषि, एवं सूद पर ऋण देने का कार्य वैश्यों का था। शूद्रों का कार्य अन्य वर्गों की सेवा एवं दस्तकारी का कार्य था। सूत्रों में प्रत्येक वर्ण के अनुरूप कार्य करने के सम्बन्ध में अधिक बल दिया गया है। इसीलिए सूत्रों के अनुसार जो ब्राह्मण गान, नृत्य, व्यापार एवं दस्तकारी का कार्य करता है, वह श्राद्ध के निमन्त्रण का अधिकारी नहीं है सभी द्विजों को वेदाध्ययन एवं यज्ञों का अधिकार प्राप्त था। किन्तु शूद्र इस अधिकार से वञ्चित थे। गौतम का तो यहाँ तक कहना है कि यदि पिता भी शूद्रों के लिये यज्ञ कर रहा हो तो उसे त्याग देना चाहिये। शूद्रों को तो वैदिक मन्त्रों का इस सीमा तक अनधिकारी समझा जाता था कि पारस्कर के अनुसार द्विज केवल इस शर्त पर शूद्र कन्या के साथ विवाह कर सकता था कि विवाह अवसर वेदमन्त्रों का उच्चारण नहीं किया जाय।

जहाँ तक विवाह प्रथा की बात है, ब्राह्मण चारों वर्णों में से किसी वर्ण की कन्या से विवाह कर सकता था। क्षत्रिय, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र कन्या से विवाह कर सकता था। वैश्य, वैश्य एवं शूद्र कन्या से विवाह कर सकता था, किन्तु शूद्र केवल शूद्र कन्या से ही विवाह का अधिकारी था।

ब्राह्मणों के विवाह में गोदान, क्षत्रियों के विवाह में ग्रामदान एवं वैश्यों के विवाह में अश्वदान की प्रथा थी।

वैसे तो, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र, इन चार वर्णों में शूद्र को निम्नतम वर्ग के रूप में समझा जाता था, परन्तु फिर भी शूद्रों की स्थिति गुलामों की स्थिति नहीं थी। शूद्रों का अपना स्वतन्त्र अस्तित्व था। एक विचित्र बात यह है कि शूद्र उस समय अछूत नहीं समझे जाते थे। आपस्तम्ब ने तो शूद्रों को आर्यों के निरीक्षण में पाचक का कार्य करने का भी अधिकार दिया है।[1] इसके अतिरिक्त समाज में शूद्रेतर जाति के लोग शूद्रों को

---

१. आर्याधिष्ठिता वा शूद्राः संस्कर्तारः स्युः। आपस्तम्ब धर्मसूत्र २।२।३।४

घृणा की दृष्टि से न देखकर उन्हें उचित महत्त्व भी देते थे। इसीलिये गौतम ने वृद्ध शूद्र को भी प्रणाम करने का विधान लिखा है—

तथाऽन्यः पूर्वः पौरोऽशीतिशवरः शूद्रोऽप्यपत्यसमेन (गौतम धर्म-सूत्र ६।१०)।

जहाँ तक सूत्र कालीन वेषभूषा का प्रश्न है, उस समय के लोग ऊन वल्कल, सन, जानवरों की खाल, सिल्क और कुश के वस्त्र पहिनते थे। परन्तु कुश वस्त्रों का प्रयोग केवल यज्ञ के अवसर पर ही किया जाता था। प्रायः लोग उत्तरीय एवं अन्तरीय वस्त्र पहिनते थे। पुरुष उष्णीष पहिनते थे, किन्तु स्त्रियों के सम्बन्ध में उष्णीष का विधान सूत्रों में अनुपलब्ध है। स्त्रियों के शिरोवस्त्र के लिये सूत्रों में कुम्बकुरीर उल्लेख मिलता है। आपस्तम्ब श्रौतसूत्र (१०,९,७) के अनुसार कुम्बकुरीर बालों का जाल होता है। इसके अतिरिक्त रंगे हुये वस्त्रों का प्रयोग भी सूत्रकाल में होता था। ब्रह्मचारी के लिये काषाय, क्षत्रिय विद्यार्थी के लिए मञ्जिष्ठ और वैश्य विद्यार्थी के लिये पीले वस्त्रों का विधान था। इसके अतिरिक्त जो विद्यार्थी महानाम्नीव्रत का पालन करता था, वह काले वस्त्र धारण करता था।

सूत्रकालीन संस्कृति के अनुसार स्त्री एवं पुरुष दोनों ही आभूषण पहिनते थे। उदाहरण के लिए विद्या अध्ययन करने के पश्चात् अन्त में विद्यार्थी कुण्डल, मणियाँ एवं अन्य स्वर्णाभूषण धारण करता था।[1]

उस समय के प्रधान आभूषणों में रुक्मनिष्क (गले के आभूषण) तथा स्रज थे। उस समय पुरुष भी गले के आभूषण धारण करते थे। इसके अतिरिक्त सूत्रकाल में पुष्पहारों के पहिनने की भी प्रथा थी। विवाह के अवसर पर दुलहिन मधूक के पुष्पों की माला पहिनती थी। स्नातक भी समावर्तन संस्कार के अवसर पर फूलों की माला पहिनता था। सौन्दर्य वृद्धि के लिये सूत्रकाल

---

१. देखिये—शाङ्खायन गृह्य सूत्र ३।१।१८, पा० गृ० सू० २।६।२६

में नेत्रों में अञ्जन का प्रयोग भी किया जाता था। स्त्रियां दो चोटियां भी करती थीं।

सूत्रकाल के खाद्य पदार्थों में आपूय, पुरोडाश, स्थालीपाक (दूध या पानी के साथ पका पत्य चावल) पायस, ओदन (केवल पानी के साथ पत्य चावल), लाजा (खील), सत्तुएँ, पृषातक (घृत एवं दही को मिलाकर बनाया गया पदार्थ) आदि का विशेष प्रचार था।

जहाँ तक मांसाहार की बात है, सूत्रकाल में मांस का प्रयोग होता था। कभी-कभी तो मांसाहार अनिवार्य ही था। जैसे कि मांस के बिना मधुपर्क सम्पन्न नहीं हो सकता था[1]; परन्तु कुछ परिस्थितियों में मांस का निषेध किया जाता था। उदाहरण के लिये ब्रह्मचारी के लिये मांस का निषेध था। इसी प्रकार अनेक यज्ञों के अवसर पर भी मांस निषिद्ध था। इसके अतिरिक्त तक्र, सत्तू, आज्यमन्थ (घृत में चले सत्तू) पयोमन्थ, (दूध में चले सत्तू) दधिमन्थ (दही में चले सत्तू) एवं उदमन्थ (जल में चले सत्तू) का भी पेय के रूप में प्रचार था। सुरा का सूत्रकाल में साधारण रूप से पान किया जाता था।[2] विवाह आदि के अवसरों पर बहुत सी स्त्रियां भी सुरापान करती थीं।

मनोरञ्जन के लिये सूत्रकाल में पाशे के खेल, सङ्गीत, नृत्य, नाटकों के अभिनय और रथों की दौड़ आदि का प्रचलन था। साथ ही उस समय मेलों का भी प्रचार था।

जहाँ तक विवाह प्रथा की बात है, सूत्रकाल में ब्राह्म, दैव, प्राजापत्य, आर्ष, गान्धर्व असुर, राक्षस और पैशाच रूप से ८ प्रकार के विवाह प्रचलित थे। ब्राह्म विवाह के अनुसार कन्या का पिता स्वर्णाभूषणों से सुसज्जित पुत्री

---

१. नामांसो मधुपर्कः स्यादिति ह विज्ञायते। काठ० गृ० सू० २४।२०
तथा देखिये आप० गृ० सू० १।२४।२६ शा० गृ० सू० २।१५।२

२. सुरां सुरापेभ्यः (कौषीतकि सूत्र ११।१०)

को सुचरित्र सम्पन्न एवं गुणी वर को देता था। दैव विवाह के अनुसार ऋत्विक् के लिये कन्या दी जाती थी और ऋत्विक् विवाह संस्कार के अवसर पर कन्या के पिता के लिये श्रौत यज्ञ करता था। प्राजापत्य विवाह के अनुसार कन्या का पिता वर एवं वधू को अपने कर्तव्य पालन का उपदेश देता था। आर्ष विवाह के अन्तर्गत कन्या का पिता वर से गाय एवं बैल लेने के पश्चात् कन्या को पवित्र विधि के साथ वर को देता था। जब प्रेमिका एवं प्रेमी अपने प्रेम के आधार पर विवाह सम्बन्ध में बंध जाते थे, तो उसे गन्धर्व विवाह कहते थे। राक्षस विवाह के अनुसार वर या उनके साथियों के द्वारा कन्या का बलात् अपहरण कर लिया जाता था तथा कन्या के सम्बन्धियों को मारा पीटा भी जाता था। जब कोई पुरुष किसी सोई हुई या नशे में बेहोश स्त्री को बहकाकर या किसी अन्य प्रकार से ले जाता है तो उसे पैशाच विवाह कहते हैं। सभी धर्माचार्यों के द्वारा इस विवाह का निषेध किया गया है।

संस्कारों का विवेचन भी सूत्रों में विशदरूप से मिलता है। गौतमधर्म सूत्र में चालीस संस्कारों का उल्लेख मिलता है। इन संस्कारों में गर्भाधान, पुंसवन, सीमन्तोन्नयन, जातिकर्म, नामकरण, अन्नप्राशन आदि संस्कार आते हैं। इन संस्कारों का उल्लेख पीछे किया जा चुका है।

सूत्रकाल में नारी का महत्त्वपूर्ण स्थान था। सूत्रों में आज की तरह नारी निन्दा का पात्र नहीं थी। अरुन्धती प्रभृति उच्चनारियों का तो सूत्रयुग में ऋषिवत् सम्मान किया गया है। जहाँ तक लड़कियों की शिक्षा की बात है, सूत्र साहित्य में इसके प्रमाण नहीं मिलते। किन्तु मानवगृह्यसूत्र और वाराहगृह्यसूत्र में यह अवश्य कहा गया है कि विवाह के लिये विद्या भी एक कारण था। इस प्रकार विद्या लड़का एवं लड़की दोनों के लिये ही अपेक्षित थी। फिर उपनिषद् काल में जिस शिक्षा का पूर्ण विकास था, उसका निकट वर्ती सूत्रकाल में लोप नहीं कहा जा सकता।

सूत्रकाल में एक विवाह का ही विधान था किन्तु अपवाद रूप से बहु विवाह पद्धति का भी प्रचलन था। बहुपति प्रथा सूत्रकाल में पूर्णतया अज्ञात थी। इसके अतिरिक्त स्त्रियाँ पुंश्चली एवं गणिकायें भी होती थीं।

सूत्रयुग में पत्नी का पर्याप्त सम्मान था। समावर्तन क्रिया के अन्तर्गत पति-पत्नी साथ-साथ भोजन करते थे। साधारणतया यज्ञादि भी पति एवं पत्नी दोनों के ही सहयोग से सम्पन्न होते थे। इस युग मे सती प्रथा भी अज्ञात थी। सूत्रयुग में यह प्रथा तो अवश्य थी कि पत्नी मृत पति के पास लेटती थी, परन्तु फिर उठा ली जाती थी. हां, उत्तरकालिक विष्णुधर्मसूत्र के अन्तर्गत सती प्रथा का उल्लेख अवश्य है।

सूत्रकाल में विधवा विवाह का भी प्रचलन था। परन्तु विधवा-विवाह तभी होता था, जबकि सगाई के पश्चात् पति की मृत्यु हो जाती थी। या विवाह संस्कार सम्पन्न होने के बाद पति की मृत्यु हो जाती थी। इस प्रकार यह पूर्णतया स्पष्ट हो जाता है कि सूत्रकाल में नारी का सम्मान पूर्ण स्थान था।

शिक्षा

शिक्षा का वेदाङ्ग के रूप में परिगणन तैत्तिरीय उपनिषद् के अन्तर्गत किया गया है।[1] वेदाङ्ग के अन्तर्गत शिक्षा शब्द का अर्थ वैदिक मन्त्रों का शुद्ध उच्चारण सिखाने वाला लघु ग्रन्थ है।[2] पदपाठ एव संहिता पाठ भी इसी शिक्षा विधान का फल है। संहिता पाठ एवं पदपाठ का जो रूप हमें वैदिक साहित्य के अन्तर्गत मिलता है उसी को प्राति शाख्य कहा गया है। प्रातिशाख्यों के अन्तर्गत संहिता पाठ एवं पदपाठ सम्बन्धी नियमों का निर्देश

---

१. देखिये, तैत्तिरीय उपनिषद् १।२

२. "स्वरवर्णाद्युच्चारण प्रकारो यत्र शिक्ष्यते उपदिश्यते सा शिक्षा" सायण, ऋग्वेद भाष्य भूमिका पृ० ४६

किया गया है। संहिताओं की पृथक्-पृथक् शाखाओं के आधार पर प्रातिशाख्यों की सृष्टि हुई है। इसीलिये तैत्तिरीय सहिता से सम्बन्धित तैत्तिरीय प्रातिशाख्य की तरह ही, वाजसनेयि सहिता और अथर्ववेद सहिता सम्बन्धित भी पृथक्-पृथक् प्रतिशाख्य मिलते हैं। इसी प्रकार साम से सम्बन्धित साम प्रातिशाख्य भी मिलता है।

भारद्वाज, व्यास, वशिष्ठ एवं याज्ञवल्क्य आदि के नाम से जो शिक्षा ग्रन्थ आज मिलते हैं उनका मूल आधार भी उपर्युक्त प्रातिशाख्य ग्रन्थ ही प्रतीत होते हैं। उदाहरण के लिये व्यास शिक्षा का सम्बन्ध तैत्तिरीय प्रातिशाख्य से है। इसी प्रकार अन्य शिक्षा ग्रन्थों का सम्बन्ध भी किसी न किसी प्रातिशाख्य से अवश्य है।

शिक्षा से ही सम्बन्धित अनुक्रमणी साहित्य भी है। अनुक्रमणियों के अन्तर्गत वैदिक संहिताओं के सूत्रों और मन्त्रों की संख्या और क्रम आदि का निर्देश किया जाता है। इसके अतिरिक्त इनमें देवता, छन्द एवं ऋषि आदि का निर्देश भी रहता है।

याज्ञवल्क्य शिक्षा, वसिष्ठी शिक्षा कात्यायनी शिक्षा, पाराशरी शिक्षा, नारदीय शिक्षा तथा माण्डूकीय शिक्षा के रूप में शिक्षा ग्रन्थों के अनेक ग्रन्थ मिलते हैं। परन्तु इन सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण पाणिनीय शिक्षा है। पाणिनीय शिक्षा के ६० श्लोकों में उच्चारण सम्बन्धी अनेक नियमों का उल्लेख किया गया है। पाणिनीय शिक्षा के अन्तर्गत उच्चारण को अत्यधिक महत्त्व दिया गया है। पाणिनि वेद में स्वर के महत्त्व को स्पष्ट करते हुए कहते हैं—

मन्त्रो हीनः स्वरतो वर्णतो वा मिथ्या प्रयुक्तो न तमर्थमाह। सवाग्-वज्रो यजमान हिनस्ति यथेन्द्रशत्रुः स्वरतोऽपराधात्। (पाणिनीय शिक्षा ५२)

वेद के उच्चारण के लिये उदात्त, अनुदात्त एवं स्वरित का ज्ञान परमावश्यक है। पाणिनि ने उदात्त, अनुदात्त एवं स्वरित की व्यवस्था करते हुए

कहा है कि उदात्त का उच्चारण उच्च स्वर से, अनुदात्त का उच्चारण मन्द स्वर से तथा स्वरित का उच्चारण मध्यम स्वर से किया जाता है।[1]

इसके अतिरिक्त सिद्धान्त कौमुदी की स्वर वैदिकी प्रक्रिया के अन्तर्गत भी वैदिक स्वरों के नियमों के सम्बन्ध में सविस्तार विवेचन किया गया है।

व्याकरण

प्रत्येक भाषा में व्याकरण का महत्त्व अग्रगण्य होता है। इसीलिये 'मुखं व्याकरणं स्मृतम्, की उक्ति प्रसिद्ध है। प्रातिशाख्यों के अन्तर्गत वैदिक व्याकरण के प्रारम्भिक रूप के दर्शन होते हैं। शौनक रचित ऋक् प्रातिशाख्य में अगस्त्य-व्याकरण का उल्लेख किया गया है। संक्षेप में, प्रातिशाख्यों में वर्ण समाम्नाय, पद विभाग, सन्धि-विच्छेद, स्वर विचार, पाठ विचार और उच्चारण सम्बन्धी भेदों का निरुपण किया है। वर्ण समाम्नाय के अन्तर्गत स्वर व्यञ्जन सम्बन्धी विचार एवं उच्चारण आदि का विचार, पद विभाग में प्रगृह्य संज्ञा तथा अवग्रह आदि के नियम, सन्धि विच्छेद के अन्तर्गत अच् तथा हल् आदि सन्धियों का विचार, स्वर विचार के अन्तर्गत उदात्त, अनुदात्त एवं स्वरित आदि के स्वरूप एवं भेद का निरुपण, पाठ विचार में संहिता पाठ, पदपाठ आदि का विचार और उच्चारण विचार के अन्तर्गत वृद्ध, अवृद्ध, प्रश्लेष, विश्लेष, उच्च, निम्नकृष्ट तथा अकृष्ट आदि का विचार किया गया है।

लौकिक संस्कृत की व्याकरण के अनेक ग्रन्थ मिलते हैं। अष्टाध्यायी, जिसकी रचना ई० पू० छठी शताब्दी में हुई थी, व्याकरण का मूल ग्रन्थ है। इसके रचयिता पाणिनि हैं। व्याकरण शास्त्र को समझने के लिये अष्टाध्यायी का परिज्ञान आत्यावश्यक है। इसमें स्वर वैदिकी के रूप में वैदिक स्वरादि के नियमों का भी निरुपण किया गया है। इसके पश्चात् ई० पू०

---

१. उच्चैरुदात्तः, नीचैर नुदात्तः, समाहारः स्वरितः।

चतुर्थ शताब्दी में कात्यायन ने वार्तिकों की रचना की थी। कात्यायन के बाद ई० पू० दूसरी शताब्दी में पतञ्जलि ने महाभाष्य का निर्माण करके व्याकरण दर्शन का अनुपम ग्रन्थ भारती के भण्डार को अर्पित किया। महा-भाष्य का यह भाषा शैली गत वैशिष्टय द्रष्टव्य है, वह व्याकरण ग्रन्थ होने पर भी पाठक के लिए अधिक रुचिकर एवं सरल प्रतीत होता है।

इसके बाद लगभग सातवीं शताब्दी तक दार्शनिक विचारधारा का प्रवाह अजस्रगति से बढ़ता गया। सातवीं शताब्दी के पश्चात् जयादित्य और वामन द्वारा अष्टाध्यायी के ऊपर 'काशिका' वृत्ति की रचना की गई। इस काशिका पर भी जितेन्द्र बुद्धि ने न्याम और हरदत्त ने पदमञ्जरी टीका लिखी थी। इसी के पास भर्तृहरि ने वाक्य पदीय की रचना की। इस ग्रन्थ में व्याकरण दर्शन से सम्बन्धित जटिल समस्याओं का समाधान प्रस्तुत किया गया है। स्फोट सिद्धान्त का प्रतिपादन भी इस ग्रन्थ के अन्तर्गत किया गया है। चीनी यात्री इत्सिग ने भर्तृहरि का मृत्यु काल ६५० ई० माना है। ११०० ई० के लगभग काश्मीरी पण्डित कैयट ने महाभाष्य पर 'प्रदीप' नाम की टीका की रचना की। इसके पश्चात् १३५० ई० में विमल सरस्वती ने रूपमाला और रामचन्द्र ने १५वीं शताब्दी में प्रक्रिया—कौमुदी की रचना की। सन् १६३० में भट्टोजि दीक्षित द्वारा की गई सिद्धान्त कौमुदी की रचना व्याकरण का एक अमूल्य ग्रन्थ है। भट्टोजि दीक्षित ने ही सिद्धान्त कौमुदी पर प्रौढ मनोरमा और अष्टाध्यायी पर 'शब्द कौस्तुभ, की रचना की थी। पंडितराज जगन्नाथ ने प्रौढ़ मनोरमा पर कुच मर्दिनी टीका लिखी थी। इसके अनन्तर नागेश भट्ट ने शब्द रत्न, विषभी (शब्द कौस्तुभ की टीका) वैयाकरण सिद्धान्त मञ्जूषा, शब्देन्दु शेखर, परिभाषेन्दु शेखर आदि महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों की रचना की थी। फिर वरदराजाचार्य ने लघु सिद्धान्त कौमुदी और मध्य सिद्धान्त कौमुदी की रचना की।

उपर्युक्त व्याकरण साहित्य के अतिरिक्त जैनेन्द्र व्याकरण (६वीं शताब्दी) शाकटायन शब्दानुशासन (८वीं शताब्दी) बोपदेव का मुग्धबोध,

क्षेमचन्द्र का शब्दानुशासन (१२ वीं शताब्द), जौमर व्याकरण (१३वीं शताब्दी), सौपन व्याकरण (१४वीं शताब्दी) की उल्लेखनीय हैं। इन ग्रन्थों में पाणिनि व्याकरण को सरल करने का प्रयत्न किया गया है। इसके अतिरिक्त रामाश्रम द्वारा रचित सारस्वत व्याकरण की टीका सारस्वतचन्द्रिका का नाम भी उल्लेख करने योग्य है। कुछ समय तक इस ग्रन्थ का अच्छा प्रचलन रहा था, परन्तु अब सारस्वत व्याकरण का भी चलन नहीं रह गया है।

निरुक्त

वैदिक शब्दों की व्युत्पत्ति का निर्देश निरुक्त का कार्य है। निरुक्त निघण्टु का भाष्य है और निघण्टु में वैदिक शब्दों की क्रमबद्ध तालिका प्रस्तुत की गई है।

यास्क ने अपने निरुक्त के अन्तर्गत आग्रायण, औदुम्बरायण, औपमन्यव, और्णवाम, कात्थक्य, क्रौष्टुकि, गालव, गार्ग्य, तैटीकि, वार्ष्यायणि, शाकपूणि और स्थौलाष्ठीवि, इन द्वादश निरुक्तकारों का भी उल्लेख किया है।

यास्क के निरुक्त में परिशिष्ट के दो अध्यायों को मिलाकर कुल चौदह अध्याय हैं। यास्क के निरुक्त में नैघण्टुककाण्ड, नैगमकाण्ड, और दैवत काण्ड, ये तीन काण्ड हैं। प्रथम काण्ड और द्वितीय काण्ड में तीन-तीन अध्याय और तृतीय काण्ड में छः अध्याय हैं।

निरुक्त के वर्ण्य विषय से यह स्पष्ट है कि वह व्याकरण एवं भाषा विज्ञान के अधिक समीप है। निरुक्त के अनुशीलन के लिए व्याकरण का ज्ञान होना परमावश्यक है। व्याकरण ज्ञान के बिना निरुक्त ज्ञान असम्भव है। इसीलिये यास्काचार्य ने 'नावैयाकरणाय' कहकर अवैयाकरण के लिए निरुक्त की दुर्बोधता का संकेत किया है।

दुर्गाचार्य निरुक्त के टीकाकार हैं। परन्तु ये निरुक्त के आद्य टीकाकार नहीं हैं। दुर्गाचार्य ने ही अपनी निरुक्त की टीका में निरुक्त वार्तिक नामक

निरुक्त की प्राचीन टीका का उल्लेख किया है। कतिपय विद्वान् दुर्गाचार्य की जन्मभूमि काश्मीर और कुछ गुजरात मानते हैं। दुर्गाचार्य अन्त में संन्यासी हो गये थे। दुर्गाचार्य की दुर्गवृत्ति मे निरुक्त की व्याख्या की गई है। दुर्गाचार्य के अतिरिक्त बर्बर स्वामी, स्कन्द महेश्वर और वररुचि ने भी निरुक्त पर टीकाएँ लिखी हैं।

छन्द

छन्द अर्वाचीन वेदाङ्ग है। कात्यायन ने अपनी सर्वानुक्रमणी के अन्तर्गत छन्द की परिभाषा देते हुए कहा है—

"यदक्षर परिमाण तच्छन्द":

इस प्रकार वैदिक छन्दों की रचना का आधार अक्षर गणना है। वैदिक मन्त्रों के उच्चारण के लिये छन्दों का ज्ञान होना अत्यावश्यक है। वेद के मुख्य छन्दों के नाम सहिता तथा ब्राह्मण ग्रन्थो मे उपलब्ध होते है। छन्द वेदाङ्ग का प्रमुख ग्रन्थ पिङ्गल रचित 'छन्दः सूत्र' है। इस ग्रन्थ मे आठ अध्याय हैं। छन्दः सूत्र के प्रथम सात अध्यायो में वैदिक छन्दों का तथा अष्टम अध्याय के अन्तर्गत लौकिक छन्दों का वर्णन है।

लौकिक छन्दों और वैदिक छन्दों मे भेद है। लौकिक संस्कृत के छन्दों में चार चरण होते है, परन्तु वैदिक संस्कृत के छन्दों के सम्बन्ध मे ऐसा कोई नियम नही है। वैदिक छन्द दो पादों से लेकर पांच पादों तक के होते हैं। उदाहरण लिसे गायत्री छन्द मे तीन पाद हैं और तीनों पादों में आठ आठ अक्षर हैं। उष्णिक् छन्द मे भी तीन पाद हैं। इसके प्रथम दो पादों में आठ-आठ अक्षर और तीसरे पाद में १२ अक्षर हैं। पुरउष्णिक में भी तीन पाद हैं। इसमें प्रथम पाद में १२ और दूसरे तथा तीसरे पाद मे आठ-आठ अक्षर होते हैं। अनुष्टुप् में चार पाद होते हैं और चारों पादों में आठ-आठ अक्षर होते हैं। वृहती छन्द में भी चार पाद होते हैं और इसके प्रथम,

द्वितीय और चतुर्थ पाद में आठ अक्षर होते हैं तथा तृतीय पाद के अन्तर्गत बारह अक्षर होते हैं।

सतोबृहती में भी चार पाद होते हैं और इसके प्रथम तथा तृतीय पाद में बारह-बारह अक्षर तथा द्वितीय एवं चतुर्थ के अन्तर्गत आठ-आठ अक्षर होते हैं। पक्ति पांच पादों का छन्द है। इसके प्रत्येक पाद में आठ-आठ अक्षर हैं। प्रस्तारपंक्ति चार पादों का छन्द है और इसके प्रथम दो पादों में बारह-बारह अक्षर तथा अन्तिम दो पादों में आठ-आठ अक्षर हैं। त्रिष्टुभ भी चार पादों का छन्द है और इसके चारों पादों में ग्यारह-ग्यारह अक्षर हैं। जगती में भी चार पाद होते हैं और चारों पादों में बारह-बारह अक्षर होते हैं। ककुभ् छन्द तीन पादों का है। ककुभ् के प्रथम पाद में आठ अक्षर, द्वितीय पाद में बारह अक्षर और तृतीय पाद में आठ अक्षर हैं।

ज्योतिष

'ज्योतिष वेदाङ्ग, के नाम से ज्योतिष का एक लघुकाय ग्रन्थ भी मिलता है। यह ग्रन्थ पद्य मय। इसके यजुर्वेदीय संस्करण में तैंतालीस पद्य हैं और ऋग्वेदीय संस्करण में ३६ पद्य है। उत्तरायण तथा दक्षिणायन के समय सूर्य तथा चन्द्रमा की स्थिति, द्वादश राशियों के प्रसंग में अश्विनी आदि नक्षत्रों के अपने-अपने मण्डल और उन मण्डलों में प्रतिपदा तथा पूर्णमा की अवस्थिति सम्बन्धी नियम आदि का उल्लेख है।

ज्योतिष वेदाङ्ग की, वेदों के यज्ञ भाग के लिए महती उपादेयता है। ज्योतिष के आधार पर ही यज्ञों के मुहूर्त्त आदि का निर्णय किया जाता है। वैदिक यज्ञों के सम्पादन में मुहूर्त्तादि के लिये नक्षत्रज्ञान का होना भी आवश्यक है। इस प्रकार नक्षत्रादि के परिज्ञान के लिये ज्योतिष का ज्ञान आवश्यक है। इसीलिये ज्योतिष की महत्ता को बतलाते हुये कहा गया है—

यथा शिखा मयूराणाम् नागानाम् मणयो यथा।
तद्वद्वेदाङ्ग शास्त्राणाम् गणितं मूर्ध्नि स्थितम्॥

अर्थात् जिस प्रकार मयूरों की शिखा शीर्षस्थ है और सर्पों की मणियां शीर्षस्थ हैं, उसी प्रकार वेदाङ्ग शास्त्रों में ज्योतिष भी शीर्षस्थानीय है।

परिशिष्ट-क

वैदिक देवता

द्योस्—यह शब्द दिव् धातु से निष्पन्न है और इसका अर्थ चमकने वाला है।

आकाश स्थानीय देवताओं में प्राचीनतम देवता द्यौः हैं। द्यौः स्वयं आकाश का मानवीकृत रूप हैं। इसका स्तवन सामान्यतः पृथिवी के साथ किया गया है। द्यौ और पृथिवी संसार के माता पिता के रूप में माने गये हैं। द्यौ शब्द का प्रयोग ऋग्वेद में ५०० बार हुआ है। यह प्रयोग स्थूल आकाश के अर्थ में हुआ है। इसके अतिरिक्त ५० बार इस शब्द का प्रयोग ऋग्वेद में दिन के अर्थ में हुआ है। जब यह द्युलोक के देवता के रूप में मानवीकृत रूप से प्रस्तुत हुआ है तो यह पृथिवी के साथ द्विवचन में प्रयुक्त हुआ है—उदाहरणार्थ द्यावा पृथिवी। द्यौ की पुत्री उषा, नपात् अश्विन् और सूनु या शिशु अग्नि हैं। पर्जन्य, सूर्य, आदित्यगण, मरुद्गण और अङ्गिरस उसके पुत्र हैं।

मानवीकरण—ऋग्वेद के अन्तर्गत द्यौ के मानवीकरण का प्रमुख लक्ष्य उसका पितृत्व है। कुछ मन्त्रों में द्यौ को वृषभ कहा गया है। द्यौ की उपमा एक स्थल पर मुक्ता सज्जित कृष्ण बीज के साथ दी गई है। परन्तु अन्य बड़े-बड़े देवों की तरह कहीं-कहीं द्यौ को असुर भी कहा गया है।

अग्नि—अग्नि पृथिवी स्थानीय देव हैं। ऋग्वेद के २०० सूक्त अग्नि की स्तुति में गाए गाए हैं। अग्नि का आवाहन तीन रूपों में मिलता है—प्रथम पृथिवी का यज्ञ सम्बन्धी अग्नि, द्वितीय अन्तरिक्ष का विद्युत् रूप अग्नि और तृतीय आकाश का सूर्य रूप अग्नि। भौमिक देवताओं (में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण अग्नि ही हैं। दो अरणियों)

के सङ्घर्षण से अग्नि उत्पन्न की जाती थी और उत्पन्न होते ही वे अरणियाँ जल जाती थीं, इसीलिये अग्नि को माताओं का खाने वाला कहा गया है। दो अरणियों को जलाने वाले की अगुलियाँ काम में आती थीं, इसीलिये अग्नि को त्वष्टा कहा गया है। अग्नि को शक्ति का पुत्र कहा गया है, क्योंकि शक्ति के कारण हुये अरणि सघर्ष से वह उत्पन्न किया जाता था। अग्नि गृहपति है तथा समस्त अतिथियों में प्रथम है। अग्नि प्रत्येक गृह का अतिथि है। कुटुम्ब की समृद्धि अग्नि के हाथ में है। अग्नि 'कुमारियों का स्वामी' अथवा 'स्त्रियों का पति' है। विवाह के आशीर्वादों मे यह कहा जाता है कि कन्या का पति अग्नि है। इसके अतिरिक्त अग्नि में मानव रूप का आरोप भी किया गया है। यज्ञ की अग्नि में घृत की आहुति दी जाती थी। अग्नि के शारीरिक अवयव भी हैं। अग्नि घृत प्रतीक है। उसके श्मश्रु-लाल हैं। याज्ञिक अग्नि की दृष्टि से वह दूत है और मनुष्यों तथा देवताओं का मध्यस्थ है। अतएव वह प्रधान होता भी है। वह वायु प्रेरित होकर दो अथवा एक अश्व के द्वारा खींचे जाने वाले रथ में चलता है। अग्नि सहस्त्र नयन है और अपने सहस्त्रनयनों से उपासकों की बस्तियों को देखता है। अपने उपासक के शत्रुओं को शुष्क झाड़ियों के समान नष्ट कर डालता है और दुरात्मा को विद्युत् के द्वारा वृक्ष के समान नष्ट कर डालता है। जिस प्रकार वृक्ष से शाखाएं निकलती हैं उसी प्रकार सब प्रकार के सुख और कल्याणकारी तत्त्व अग्नि से प्रस्फुटित होते हैं। अग्नि में समस्त निधियाँ वर्त्तमान है तथा अग्नि धन का द्वार उद्घाटित करता है। आकाश से वह वर्षा प्रदान करता है। गृह सम्बन्धी कल्याण, सन्तति और सामान्य समृद्धि आदि अग्नि के वरदान हैं। अग्नि दस्युओं को दूर भगा देता है।

इन्द्र—इन्द्र वैदिक भारतीयों के अत्यन्त महत्त्वपूर्ण देव हैं। ऋग्वेद के सूक्तों की एक चौथाई संख्या (२५०) इन्द्र के लिये समर्पित है। विद्वानों का विचार है कि इन्द्र किसी भौतिक दृश्य का मानवीकरण है। परन्तु इन्द्र किस भौतिक दृश्य का मानवीकृत रूप है, यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा

सकता । इसीलिये घाटे महोदय ने लिखा है—

It is not possible to say exactly what phenomenon of nature is represented by the god because so many personal attributes are associated to him that we cannot easily pierce through the god's personality. Thus he is an opaque as compared with the transparent अग्नि ।

इन्द्र पृथिवी और द्यौ के पुत्र हैं । इन्द्र ने उत्पन्न होते ही सोमपान किया था । इन्द्र प्राचीन, यौवन पूर्ण, बलिष्ठ, स्फूर्ति युक्त, सैनिक, अमर, सर्व विजेता, निस्सीम बुद्धि पूर्ण एवं अपार शक्ति युक्त है । इन्द्र की चिबुक सुन्दर है, वह सुशिप्र है, हिरण्यबाहु है । उसका एक स्वर्णिम रथ है जो हरिताश्व के द्वारा चालित होता है । प्रार्थनाओं की शक्ति से घोड़े रथ में जोड़े जाते हैं । वज्र इन्द्र का शस्त्र है । इन्द्र सोमपान में अद्वितीय है । इन्द्र सोममद से उन्मत्त होकर शत्रुओं का विनाश करता है और राक्षसों को मौत के घाट उतारता है । वृत्र, अहि, शुष्ण, नमुचि, शंबर राक्षसों से वह विष्णु के साथ मिलता है और उनका वध करता है । वह पुरन्दर है । इन्द्र है । इन्द्र के वज्र प्रहार से पृथ्वी और आकाश हिल जाते हैं । इन्द्र एक भयङ्कर वीर योद्धा हैं । वे कृपालु और उदार मित्र भी हैं । इन्द्र ऐसा देवता है जिसके बाण शत्रु के लिए प्राणहर हैं । इन्द्र के हृदय में मर्त्यों के प्रति-सहानुभूति है तथा वह पिताओं का पिता है । इन्द्र मनुष्यों के भाग्य का नियन्ता है । इन्द्र अधार्मिक का शत्रु है । इन्द्र भारत के आर्यों का एक मात्र प्रतिनिधि है । वह एक राष्ट्रीय देव है ।

उपर्युक्त आधार तथ्यों से हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि—

(१) इन्द्र केवल बाह्य भौतिक अपार शक्ति के प्रतीक हैं । इन्द्र की शक्ति वरुण के समान आध्यात्मिक नहीं है ।

(२) आक्रामक आर्यों का इन्द्र जातीय नायक है और कृष्ण वर्णदस्यु से वह शत्रु के समान लड़ता है । वह शक्ति का स्वामी है तथा उसके समस्त

कार्य वीरता पूर्ण हैं।

(३) त्वष्टा-ने उसे वज्र बनाकर दिया और उसी वज्र से गरजते पशु के समान इन्द्र ने वृत्र को मारकर समुद्र तक जल को बहने के लिये स्वतन्त्र कर दिया। वह वृत्र कौन था ? और उसने जल को क्यों रोका ? आदि के सम्बन्ध में कई सिद्धान्त प्रतिपादित किए गये हैं—

(१) दूसरा सिद्धान्त ऊषा का सिद्धान्त है। जिसके अनुसार इन्द्र सूर्य देवता के रूप में रात्रि कालीन अन्धकार रूप वृत्र को समाप्त करके प्रकाश की बाढ़ ले आता है जिससे प्राणियों का कल्याण होता है।

(२) तीसरे सिद्धान्त के अनुसार वृत्र हेमन्तर्तु है जो नदियों के जल को जमाकर प्रतिहत गति कर देता है। इन्द्र वसन्तर्तु अथवा ग्रीष्मर्तु के सूर्य देवता है, वह बर्फ को पिघलाकर जल को उक्त कथित राक्षस से मुक्त करता है और उसका विनाश करता है।

(३) तिलक जी ने इस वृत्र राक्षस और इन्द्र की प्रतीकात्मकता का पूर्ण परिचय देने के लिये ध्रुवीय सिद्धान्त प्रतिपादित किया। इस सिद्धान्त के अनुसार ध्रुवीय प्रदेश की ६ मास की दीर्घ रात्रि होती है। इस रात्रि मे सूर्य के दर्शन नही हो पाते है। आर्य लोग समझते थे कि आकाशस्थ वाष्पीय वायु रूप जल को पृथ्वीस्थ किसी काल्पनिक पर्वत के द्वारा (जिसे वृत्र राक्षस कल्पित किया गया) निगृहीत कर लिया गया है। अत: सत्र सोम यज्ञों के पश्चात्, जब रात्रि समाप्ति होकर ६ मास का दिन प्रारम्भ होता था तो वह वाष्पीय वायु रूप जल प्रवाहित होने लगता था, क्योंकि इन्द्र ने उस निग्राहक वृत्र का नाश कर दिया और जल को उससे मुक्त करा दिया।

वरुण—ऋग्वेद के अन्तर्गत वरुण का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है। वरुण भौमिक न होकर आकाशीय देव हैं। वरुण किसी प्राकृतिक दृश्य का मानवीकृत रूप है। मैक्डानल का विचार है कि वरुण देवता आर्येरानियन

न होकर आर्ययोरोपियन है। अग्नि, इन्द्र और सोम की अपेक्षा वरुण की स्तुति में गाए जाने वाले सूक्तों की संख्या अवश्य कम है परन्तु उनका महत्त्व इन्द्र के साथ सर्वाधिक हो जाता है। समस्त वैदिक देवताओं में वरुण का ही मनुष्य की नैतिक विधियों से अधिक सम्बन्ध है। वरुण पापियों को दण्ड देता है। इन्द्र महान् विजेता है तो वरुण भौतिक और नैतिक व्यवस्था का नियन्ता है। भौतिक और नैतिक व्यवस्था को ही ऋत कहा गया है। वरुण उस ऋत का नियामक है। कवि विनयपूर्वक वरुण के निकट पहुंचता है और उससे अपने अपराधों की क्षमा याचना करता है। वरुण के प्रति रचित ऋचाओं में ही विनय भाव है। अन्य देवताओं की स्तुति में गाई गई ऋचाओं में इसका नितान्त अभाव है। इसीलिये डा० विन्टर निट्ज ने लिखा है—

Thus the hymns addressed to Varuna are the only ones which lend themselves to a certain conduct to comparison with the poetry of psalms.

वरुण के नियम अनुल्लंघनीय हैं। वरुण असुर कहलाता है। परन्तु इ. प्रसंग में असुर का अर्थ शक्तिशाली है। वरुण मायी है और उसका ज्ञ.. निस्सीम है। वरुण के नियम से पृथ्वी और आकाश पृथक् रहते हैं। वरुण ने सूर्य बनाया है और सूर्य के चलने के लिये मार्ग बनाया है। वायु वरुण का श्वास है। वरुण के नियम द्वारा चन्द्रमा रात्रि में चमकता है, तारक रात्रि में दृष्टिगोचर होते हैं और दिन में अदृश्य हो जाते हैं, नदियां प्रवाहित होती हैं और समुद्र में गिरती हैं, फिर भी उसे भरने में असमर्थ रहती हैं। सूर्य वरुण का नेत्र है जिससे वह सबके अपराधों को देखता है। समस्त सत्ताधारी वस्तुओं का वरुण राजा है। वरुण विश्व का सम्राट् है। वह आत्म निर्भर शासक है। सैनिक शक्ति और शासकीय सत्ता वरुण से सम्बन्धित है। वरुण समुद्रों का देवता है। अतः अपराधियों को जलोदर रोग से दण्डित करता है। वरुण दयालु है तथा असावधानी में किये गए अपराधों को क्षमा कर

देता है। इसके अतिरिक्त वह प्रायश्चित करने वाले व्यक्ति के प्रति दयावान् है। ऋग्वेद के प्रारम्भिक मण्डलों में ऋषियों ने उसकी अत्यन्त स्तुति की है। वरुण सर्वाधिक प्रभावशाली देवता है। परन्तु ऋग्वेद के अन्तिम मण्डल में प्रजापति वरुण का स्थान ले लेता है और वरुण का महत्त्व केवल जल या समुद्र देव के रूप में थोड़ा बहुत रह जाता है।

सवितृ, सूर्य, मित्र, पूषन् और विष्णु

ये पांचों सौर्य देव हैं। इनकी विशेषताओं में अति सूक्ष्म अन्तर है। कभी कभी सभी में समान गुण पाये जाते हैं।

सवितृ-सूर्य देवता है। वह समस्त जीवों को देखता है और सोने के रथ पर चलता है। वह गौरव पूर्ण है तथा सूर्य की जीवन प्रदायक विशेषता का प्रतीक है। सायण के अनुसार निकलने से पूर्व सूर्य को सवितृ कहते हैं। यास्क ने भी यही कहा है कि जब अन्धकार अदृश्य हो जाता है और सूर्य का प्रकाश व्याप्त हो जाता है तभी सवितृ का समय है। मनुष्य को वह प्रेरणा प्रदान करता है।

सूर्य—सूर्य के प्रकाशक पक्ष का द्योतक है। वह द्यौ और अदिति का पुत्र है। ऊषा सूर्य की पत्नी है। सूर्य सप्ताश्व से खींचे जाने वाले रथ पर चढ़ता है। आदित्य सूर्य का मार्ग तैयार करते हैं। समस्त स्थिर एवं गतिशील वस्तुओं की सूर्य आत्मा है और उनका संरक्षक है। वह दूरदर्शी है और समस्त मरणशील व्यक्तियों के अच्छे बुरे कर्म देखता है। सूर्य मित्र और वरुण का नेत्र है। वह अन्धकार को चोरों के समान भगा देता है।

मित्र—वरुण के मित्र हैं। वह सूर्य देवता है और मुख्य रूप से सूर्य के कल्याणकारी पक्ष का व्यञ्जक है। मित्र मनुष्यों में कर्म की प्रेरणा देता है। वह पृथ्वी और आकाश का नियन्ता है। ऋग्वेद में केवल एक ही सूक्त के द्वारा मित्र का अकेले आवाहन किया गया है। अन्यथा सर्वत्र मित्र की स्तुति वरुण के साथ हुई है।

पूषन् — भी एक सूर्य देवता है पर वह मुख्य रूप से ग्वालों का देवता है। वह समस्त मार्गों से परिचित है। पशुओं की भेड़ियों और लुटेरों से रक्षा करता है अजाश्वों (बकरों) द्वारा खींचे गए रथ पर वह सवार होता है। इसके अतिरिक्त वह सूर्या का प्रेमी भी है।

विष्णु — भी एक सूर्य देवता है। विष्णु का अन्य देवताओं के समान स्तवन किया गया है। वे कुछ देवताओं की अपेक्षा कम महत्त्वपूर्ण हैं। विष्णु ने तीन पगों में तीनों लोकों को नाप लिया था। विष्णु ने पृथ्वी और आकाश की स्थापना की। ऋग्वेद में एक स्थान पर विष्णु की शक्ति निस्सीम बतलाई है।

विष्णु के चरित्र की अपनी विशेषता यह है कि उनके तीन पद हैं। विष्णु के उरुगाय और उरुक्रम विशेषण भी इसी ओर संकेत करते हैं। अपने तीन पदों द्वारा विष्णु पार्थिव लोकों की परिक्रमा करते हैं। इनमें से दो पद तो मनुष्यों को दिखाई पड़ते हैं, किन्तु तृतीय सर्वोच्चपद पक्षियों की उड़ान के उस पार है। विष्णु का उच्चतमपद उदार मनुष्यों के लिये द्युलोक में स्थित चक्षु के समान प्रकट है। इन्द्र तथा विष्णु का आवास वहां है जहां भूरिशृङ्ग गौएं (बादल) विचरण करती है और जिसकी ओर गायक ऋषियों की आंख लगी रहती है।

विष्णु के तीन पद सूर्य के पथ के बोधक हैं। प्रथम पद सूर्य के उदय, द्वितीय पद मध्याह्न और तृतीय पद सूर्य के अस्त का बोधक है।

विष्णु का वाहन गरुड़ है जो पक्षियों में प्रधान है और जो अग्नि के समान ज्योतिष्मान् है।

विष्णु की इन्द्र के साथ मैत्री है। वृत्र-वध के उद्योग में अनेक बार विष्णु इन्द्र के सहयोगी बने हैं। विष्णु उदार, संरक्षण तथा वरिष्ठ-दाता है।

पर्जन्य—ऋग्वेद के देवों मे पर्जन्य का स्थान गौण है। केवल तीन सूक्तों में पर्जन्य का उल्लेख हुआ है। पर्जन्य को प्रायः वृषभ कहा गया है। पर्जन्यों को एकाधिक स्थानों पर गौ भी बतलाया गया है। वृष्टि पर्जन्य की प्रधान विशेषता है। पर्जन्य जलमय रथ पर सवारी करता है और जल दृति को खोलकर पानी को नीचे डाल देता है। परन्तु मित्र वरुण की अपेक्षा वृष्टि करने मे पर्जन्य का स्थान गौण है।

वर्षक होने के नाते पर्जन्य वनस्पति के उत्पादक तथा पोषक हैं। पर्जन्य के द्वारा वनस्पति वर्ग की वृद्धि होती है। पर्जन्य ने मानव के रक्षण के लिये ओषधि उत्पन्न की है। सम्राट् के रूप मे वे सारे जगत् पर शासन करते हैं। पर्जन्य मे समस्त प्राणी तथा तीनों स्वर्ग स्थित हैं तथा उनमे त्रिविध सलिल प्रवाहित होते है। पर्जन्य की स्त्री पृथिवी है। अथर्ववेद मे स्पष्ट कहा गया है कि पृथिवी माता है और पर्जन्य पिता है। कुछ अन्य स्थलों पर 'वशा' को उनकी पत्नी बतलाया गया है—

"वशा पर्जन्य पत्नी" (अथर्ववेद १०।१०।६)

इसके अतिरिक्त पर्जन्य को सोम का पिता कहा गया है। पर्जन्य के द्वारा सोम की वृद्धि होती है।

पर्जन्य का वात के साथ घनिष्ट सम्बन्ध है। पर्जन्य के साथ मरुतों का भी आह्वान हुआ है। दो मन्त्रो मे पर्जन्य के साथ अग्नि का भी स्तवन हुआ है। इन्द्र और पर्जन्य का भी प्राकृतिक आधार बहुत कुछ समान ही है। इसीलिए इन्द्र और पार्जन्य की अनेक समान विशेषताएं हैं।

ऊषा—ऊषा ही केवल ऐसी देवी है जिसकी स्तुति पूर्णरूप से २० सूक्तों में हुई है। ऊषा प्रात.काल की देवी है और वह उसका मानवीकृत रूप है। स्तवन के समय ऋषि के ध्यान में उसका भौतिक रूप उपस्थित रहता है। उसके सौन्दर्य से आकृष्ट होकर ऊषा देवी की स्तुति में ऋषियों ने विशेष रूचि दिखलाई है। ऊषा कोई ऐसी देवी नहीं है जिसे सोम यज्ञ

में भाग मिलता है। स्वतन्त्र होकर ऋषियों ने ऊषा देवी का नैसर्गिक चित्रण किया है। ऊषा एक द्युतिमती कुमारी है और वह द्यौ की पुत्री है। ऊषा रात्रि की भगिनी है। अपने प्रेमी सूर्य के प्रकाश के साथ वह चमकती है।

सूर्य उसके मार्ग का उसी प्रकार अनुसरण करता है जिस प्रकार कि एक युवक युवती कथा का अनुसरण करता है। ऊषा गौरवर्ण अश्व अथवा गायों के द्वारा चालित रथ पर सवारी करती है।

नर्तकी के समान शोभायमान वस्त्र धारण करके वह अपना वक्ष उघार देती है। प्रकाश के आवरण में कुमारी ऊषा पूर्व दिशा में प्रकट होती है और अपना सौन्दर्य उद्घाटित करती है। वह निष्पक्ष भाव से छोटे-बड़े को अपना सौन्दर्य प्रदान करती है। वह आकाश के द्वार खोलती है, अन्धकार के द्वार उद्घाटित करती है, प्राणियों में जागरूकता का पुट देती है तथा पक्षियों को उड़ने के लिये प्रेरित करती है। वह नित्य उत्पन्न होती है तथापि अमर है और पूर्व कालीन है। वह यज्ञ की दूती भी है। क्योंकि उसके प्रकट होते ही याज्ञिक क्रियाएं प्रारम्भ होती हैं।

पर्जन्य और वायु—वायु पवन का देवता है। उसे वात भी कहते हैं। इस देवता का ऋग्वेद में प्रमुख महत्त्व नहीं है। उसकी स्तुति में केवल तीन सूक्त हैं। वायु पवन का मानवीकरण है। वह बहुत तीव्रगति सम्पन्न है और गौर-वर्ण अश्व युग्म चालित रथ पर यात्रा करता है। पवन का अन्य देवता पर्जन्य है। पर्जन्य को विशेषरूप से वर्षा का देवता कहा गया है। तीन सूक्तों में पर्जन्य का स्तवन है। पर्जन्य वर्षा करने वाले बादल का मानवीकृत रूप है। आकार और गर्जन के कारण उसकी तुलना वृषभ से की गई है। वह वर्षा का कारण है।

रुद्र—ऋग्वेद में रुद्र का नाम भी आता है। परन्तु रुद्र की स्थिति अधिक महत्त्वपूर्ण नहीं है। केवल तीन चार सूक्तों में ही रुद्र का स्तवन मिलता है। धनुषबाण, विद्युद्दण्ड और वज्र उनके शस्त्र हैं। वह हिंसक पशु के समान

भयंकर और विनाशक है।

सोम—ऋग्वेद में सोम की स्तुति के लिये पूर्ण नवम् मण्डल ही समर्पित है। यह इस बात का प्रमाण है कि सोम वैदिक युग के प्रमुख देव हैं। सोम यज्ञ में जिस प्रकार अन्य देवताओं का आवाहन किया गया है उसी प्रकार सोम का भी आवाहन किया गया है।

महत्व की दृष्टि से सोम तृतीय देवता हैं। वह दश अंगुलियों रूपी कुमारियों द्वारा पवित्र किया जाता है। मादकता के कारण सोम दैवी रस है और जीवन शक्ति प्रदान करता है। इसी उपा-देयता के कारण सोम को अमृत भी कहा गया है। सोम अपने भक्तों को ऐसे संसार में पहुँचा देता है जहाँ प्रकाश का ही साम्राज्य है और जहाँ सुख ही सुख है। वह हर प्रकार के रोग को दूर करता है। वन के सर्वश्रेष्ठ पौधे का रस होने के कारण सोम को वन का राजा अथवा वनस्पति कहा है। बाद के सूक्तों में सोम और चन्द्रमा को एकीभूत कर दिया गया है, क्योंकि आकाशीय देवताओं का वह अमृताधिष्ठान है।

अश्विन्—ऋग्वेद में कुछ ऐसे देवता भी हैं जो युग्म के रूप में स्तुत किये गए हैं। सप्तम मण्डल में अश्विन् ऐसे ही देवता हैं। वे पुरातन तथा द्युतिमान् देवता हैं। इसके अतिरिक्त वे बुद्धि तथा विवेक के निधान हैं। सूर्या उनकी पत्नी है। अश्विन् की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वे आवश्यकता में विश्वस्त रूप से सहायता करते हैं। उदाहरण के लिये अश्विनों ने एक बटेर तक को भेड़िये के मुख में से बचा लिया था।

वेवर के मतानुसार अश्विन् जेमिनी तारा मण्डल के युगल तारे के प्रति रूप हैं। गेल्डनर का कहना है कि अश्विन् किसी भी प्राकृतिक दृश्य के प्रति रूप नहीं हैं, अपितु ये दोनों देवता सहायता करने वाले भारत के अपने दो सन्त हैं।

उपर्युक्त अश्विन् के अतिरिक्त मित्रावरुणा, इन्द्राग्नी, इन्द्रा वरुणा,

द्यावा पृथिवी, इन्द्रासोमा, इन्द्राबृहस्पति आदि देव युग्म भी वैदिककाल के अन्तर्गत उपलब्ध होते हैं।

मरूत्—मरूत् देवताओं के एक समुदाय का नाम है जिनका ऋग्वैदिक देवों में प्रमुख स्थान है। एकाकी मरूत के लिये ३३, इन्द्र के साथ कम से कम ७ तथा अग्नि और पूषा के साथ एक-एक सूक्त आया है। ये रुद्र के पुत्र हैं, इसीलिए इन्हें 'रुद्राः' अथवा कभी 'रुद्रियाः' भी कहा गया है। मरूत् को पृश्नि का पुत्र भी बतलाया जाता है। इन्हें गौ माता का पुत्र भी कहा गया है। इसीलिये 'गोमातरः' भी मरूत् का विशेषण बतलाया गया है।

मरूत् आपस में भाई हैं, जिनमें न कोई बड़ा है और न छोटा। ये सभी समान आयु वाले हैं। मरूत् का विद्युत् से भी सम्बन्ध बतलाया गया है। जब मरूत्गण घी की वर्षा करते हैं तो विद्युत् पृथिवी की ओर मुस्कराती है।

मरूत् रथों पर सवारी करते हैं और ये रथ विद्युत् जैसे चमकते हैं। ये रथ स्वर्णिम हैं तथा इनमें जल पूर्ण कोश (मेघ के) वर्त्तमान हैं। मरूत् के रथ को खींचने वाले अश्व लाल या भूरे वर्ण के हैं। इन अश्वों के अगले पैर स्वर्ण वर्ण के हैं। इनको 'पृषतीः' कहा गया है।

वर्षा करना मरूतों का प्रधान कार्य है। वे समुद्र से उठते हैं और वर्षा करते हैं। मरूत् वर्षा द्वारा सूर्य के नेत्र को मूंद देते हैं। मरूत् अपनी शक्ति से वायु और विद्युत् को जन्म देते हैं।

मरूतों को गायक भी कहा गया है। ये दिव्य गायक हैं। अपने गान द्वारा ही मरूतों ने सूर्य को प्रकाशित किया है और अपनी वंशी की लय से ही उन्होंने पर्वत का भेदन किया है।

भारतीय दृष्टिकोण के अनुसार मरूत् वायु के प्रतीक हैं। किन्तु ऋग्वैदिक स्थिति के अनुसार वे पूर्णतः वायु रूप ही नहीं हैं, अपितु उनकी

विशेषताएं मेघ और विद्युत् से भी सम्बन्धित हैं। कतिपय पाश्चात्य विद्वानों के अनुसार मरुत् प्रेतात्माओं के मानवीकरण हैं। इस विचार से मेयर तथा श्रोडर भी सहमत हैं।

मरुत् के अतिरिक्त सामूहिक देवों में रुद्र, आदित्य, वसु आदि अनेक देव आते हैं।

शम्बर (दानव)—दस्यु शम्बर का नामोल्लेख ऋग्वेद के अन्तर्गत लगभग २० बार हुआ है। शम्बर का उल्लेख प्रमुख रूप से शुष्ण, पिप्रु और वर्चिन् के साथ हुआ है। मरुतों ने असुर और शम्बर के विरुद्ध इन्द्र को शक्तिशाली बनाया था। जिस समय इन्द्र देव ने शम्बर को काटकर गिराया था तो उन्होंने आकाश के शिखर को प्रकम्पित कर दिया था। इन्द्र ने शम्बर को चालीसवीं सदी में पर्वतों पर रहते हुए पाया और अतिथिग्व के लिये उसे पहाड़ से ढकेल कर मार दिया। उन्होंने कुलितर के सुत दास शम्बर को ऊंचे पहाड़ से ढकेल कर मार दिया। उन्होंने ऊँचे स्थान पर रहने वाले शम्बर को नीचे गिराया, जो अपने आपको देव ही समझने लग गया था। इस बात का प्रायः उल्लेख मिलता है कि शम्बर के दुर्ग भी हैं। शम्बर के दुर्गों की संख्या ९०, ९९ और १०० है। शम्बर शब्द का प्रयोग एक स्थान पर नपुंसक लिङ्ग में भी हुआ है जहां इसका अर्थ 'शम्बर का पुर' है। बृहस्पति ने शम्बर को चीरकर वस्तु सम्पन्न पर्वत पर अपना आधिपत्य जमा लिया। इन्द्र शम्बर को अतिथिग्व के सम्मुख नत मस्तक करते हैं। इसके अतिरिक्त कभी-कभी इन्द्र दिवोदास या अतिथिग्व और दिवोदास दोनों के लिए शम्बर का तिरस्कार करते हैं। ये दोनों नाम सामान्यतः एक ही व्यक्ति के हैं, ऐसा प्रोफेसर मैक्डानल का विचार है, किन्तु बेर्गेन महोदय इस मत को स्वीकार नहीं करते।

———

परिशिष्ट–ख

आगरा विश्वविद्यालय द्वारा वैदिक पत्र में पूछे गए प्रश्न

1. Give in brief the central idea of the text of the Manduka Sukta and the Akas Sukta. Relate some of the popular mythologies originated from the contents of these two Suktas. (1955)
2. Give the chief characteristics of Asvin and Pusan. (1955)
3. Give your estimate of the social life in Rigvedic India on the basis of your study of the Rigveda. (1955)
4. Discuss the merits and demerits of the commentary of Sayana on Rigveda. How far do you think it is original ? (1956)
5. Discuss the date of Rigveda. (1956)
6. Give the chief characteristics of Indra or Varuna. (1956)
7. Compare and contrast the essential features of the religon of the Rigveda with that of the later period. (1957)
8. Give an account of the chief features of यम or अश्विनौ in the Rigveda. (1957)
9. Discuss the date of the Rigveda and state whether you agree or disagree with the supposition that the hymns of Rigveda have been composed on different dates as evinced by the internal evidence, (1958)
10. What are the most important metres employed in the hymns of the Rigveda ? Define and illustirate. (1958)

11. Compare the modern method of Vedic exegesis with the traditional method. (1959)
12. Explain the importance of accent in the interpretation of the Rgveda. (1959)
13. How far is the knowledge of metre and seer (Rsi) helpful in aseertaining the meaning of the Vedic hymns ? (1960)
14. Give the characteristics or mythological traits of any of the following deities :—
    पर्जन्य, यम, उषस, पूषन, अपस् । (1960)
15. Explain the conception of Rgveda deities and show how they are helpful in understanding the meaning of a hymn. (1961)
16. Point out the main land marks in the progress of the Vedic exegesis. (1961)
17. Estimate critically the value of the modern method of of interpretation of the Veda with traditional orthodox method. (1961)
18. Make a brief survey of the Vedic Literature i. e. of the Samhitas, Brahmanas, Aranyakas, Upanisads, and the Kalpasutras. (1962)
19. Explain the order of the arrangement of the hymns of the Rgveda and discuss the nature of its subject-matter. (1962)
20. Compare the character of the contents of the Rgveda with that of the Atharva Veda. (1962)
21. Give the details of the different recensions of the Yajurveda on the natnre of the subject-matter of the Samaveda. (1962)
22. Discuss the contents of the Upanisads, with special reference to the Kathopanisad. (1962)

23. Point out the main contents of the sutras covered by the term 'Kalpasutra'. State briefly some principal works of the literature, (1962)
24. Describe the nature and qualities of God as laid down in the Kathopanisad. (1963)
25. Give an account of some prominent western scholars who contributed to the study of the Vedas. (1963)
26. Discuss the date of the Rgveda. (1963)
27. State the importance and significance of the Brahmana Literature and discuss in detail the subject-matter contained therein. (1963)
28. How do the contents of the Atharaveda fit in with the ideology implied by the term 'Veda'. (1963)
29. Describe the origin of the two different schools-the black and the white-of the Yajurveda and their development under the term 'शाखा' (1963)
30. What is the significance of the three boons granted to Nachiketa by Yama ? (1964)
31. Describe the essential features of the Vedic culture as represented in the Rgveda.
32. Review the anthenticity of the Samhitas text of the Rgveda. Compare the character of the Rgveda with that of the Atharveda. (1964)
33. Give your estimate of the social life in Rgveda India on the basis of your study of the Rgveda. (1964)
34. Discuss the subject-matter of the Aranyakas. How many of them are vailable ? (1964)
35. Point out the relation between the Brahmanas and the Upanishads. Describe briefly the nature of their subject matter and doctrines. (1964)

36. Why did Yama hesitate in granting his third boon to Nechiketa, and how was he compelled to grant it ? (1965)

37. Describe briefly the main divisions of Vedic Literature. (1965)

38. Give your estimate of the social and cultural life in Vaidika India. (1965)

39. Explain the order of arrangement of the hymns of the Rgveda and discuss the nature of its subject metter. (1965)

40. Write a short essay on the subtle difference between the Vedika and Classical Sanskrit. (1965)

41. Describe briefly the fundamentul doctrine of the Upanishads. (1965)